वैसाख वीर नि० सं० २४६६

मई १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण ७

वार्षिक मूल्य ३ रु०

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख़्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कनॉट सर्कस पो० बो० नं० ४८ न्यू देहली।

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

ॐ अर्हम्

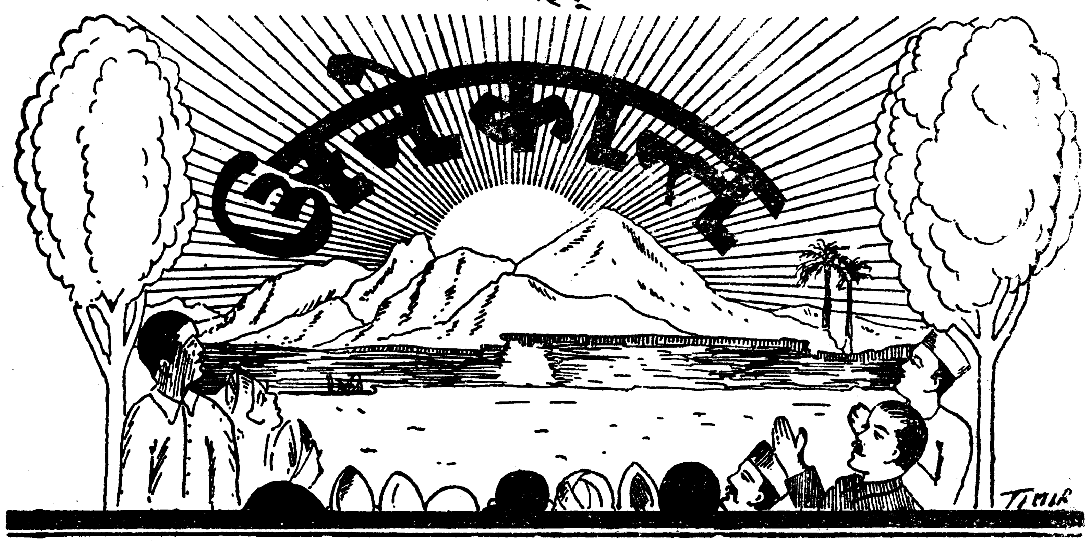

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ — सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यूदेहली
वैशाख-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९७ — किरण ७

श्रीकुन्दकुन्द-स्मरण

वन्द्योविभुर्भु वि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्त्ति-विभूषिताशः ।
यश्चारुचारण-कराम्बुज-चञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् । —श्रवणबेल्गोलशिलालेख नं० ५४

जिनकी कुन्द-कुसुमकी प्रभाके समान शुभ एवं प्रिय कीर्तिसे दिशाएँ विभूषित हैं—सब दिशाओंमें जिनका उज्ज्वल और मनोमोहक यश फैला हुआ है—, जो प्रशस्त चारणोंके—चारणऋद्धिधारक महामुनियोंके—करकमलोंके भ्रमर थे और जिन्होंने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी—आगम-शास्त्रकी—प्रतिष्ठा की है, वे पवित्रात्मा स्वामी कुन्दकुन्द इस पृथ्वीपर किनसे वन्दनीय नहीं हैं?—सभीके द्वारा वन्दना किये जानेके योग्य हैं।

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः ।
श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः ॥ —श्रवणबेल्गोल शिलालेख नं० ४०

उन (श्रीचन्द्रगुप्त मुनिराज) के प्रसिद्ध वंशमें वे श्री कुन्दकुन्दमुनीश्वर हुए हैं जिनका पहला—दीक्षा समयका—नाम 'पद्मनन्दी' था और जिन्हें सत्संयमके प्रसादसे चारण ऋद्धिकी—पृथ्वी पर पैर न रखते हुए स्वेच्छासे आकाशमें चलनेकी शक्तिकी—प्राप्ति हुई थी।

रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरङ्गुलं सः ॥ —श्रवणबेल्गोल-शिलालेख नं० १०५

यतिराज (श्रीकुन्दकुन्द) रजःस्थान पृथ्वी तलको छोड़कर जो चतुरंगुल ऊपर आकाशमें गमन करते थे उसके द्वारा, मैं समझता हूँ, वे इस बातको व्यक्त करते थे कि वे अंतरंगके साथ साथ बाह्यमें भी रजसे अत्यंत अस्पृष्ट हैं—अंतरंगमें रागादिकमल जिस प्रकार उनके पास नहीं फटकते उसी प्रकार बाह्यमें पृथ्वीकी धूलि भी उन्हें छू नहीं पाती।

उपासनाका अभिनय

[ले०—श्री० पं० चैनसुखदास, न्यायतीर्थ]

भगवन् ! तेरी सेवाका व्रत बहुत कठिन है। जगत्‌के प्रलोभनोंसे प्रेरित होकर उपासकके रूपमें उपासनाके रंग-मञ्च पर मैं अनेक बार आया। आपको देखते ही मेरे अङ्गोपाङ्ग मानों ताण्डव-नृत्यमें घूमने लगते थे, जैसे मेरे शरीरका प्रत्येक अणु सेवाव्रतका अनुभव कर रहा हो। दर्शक लोग मेरे इस अभिनयको देखकर बड़े प्रसन्न होते और उपासकके महान् पद-द्वारा मेरा अभिवादन करते। मैं उनकी मधुर वाणीको सुन कर बड़ा प्रसन्न होता। मैं अनुभव करता कि सच-मुच मैं उपासक हो गया हूँ। "जगत्‌की प्रसन्नता-से तेरा कोई तादात्म्य नहीं है" इस आध्यात्मिक रहस्यका ज्ञान मुझे न था। मैं नहीं जानता था कि तेरी सेवाका व्रत बहुत कठिन है।

मैं भक्तोंकी वन्स-मोर (once more)की ध्वनि को सुनकर उन्मत्त हो जाता,इस ध्वनिके उन्मादने मेरे और तेरे अन्तरको और भी अधिक बढ़ा दिया, पर मैं विमूढ इस सूक्ष्म रहस्यको न समझ सका। मैं तो मोहोन्मत्त हो अज्ञातकी ओर खिंचा जा रहा था। समझता था कि जीवन सफल हो रहा है; पर यह तो आत्म-वंचना थी। संसार प्रसन्न हो रहा था, किन्तु तुम्हारी उदासीनताका मुझे पता न था। जहाँसे पारितोषिककी आशा थी, वहाँ तो कृपाका लेश भी न था। बाहरसे आने वाली निःसार करतल ध्वनिमें क्या था?

इस अभिनयमें अनेक युग बीत गये, पर तुम्हारे बिठाने योग्य एक मनोहर उच्च और पवित्र आसनका निर्माण मैं न कर सका। मद, मत्सर, काम और स्वार्थके राक्षस इस देवासनके निर्माण में बाधक थे। मैं तुम्हें निमन्त्रण देता, पर स्वागतकी योग्यता न थी। तुम्हारे गीत गाता था, किन्तु तुमसे बहुत दूर रह कर। शायद तुममें तन्मय होनेका वह ढोंग था। तुम्हारे पास रह कर भी मैं तुम्हें न पा सकता था। क्योंकि मेरा विवेक अंधकारसे आवृत था। पर आश्चर्य है कि दुनिया मुझे त्यागी, तपस्वी और उपासक कहती थी!

इस बिडम्बनामें धीरे धीरे जीवन समाप्त हुआ। मैंने बिचारा कि उपासकके लिये देवदूत आवेंगे, पर राक्षसोंने आकर कहा चलो! मैं उन्हें देखकर भयभीत हो गया! मैंने कहा—'मैं उपासक हूँ, तुम मुझे गलतीसे लेने आये हो। मैं तुम्हारे साथ न चलूंगा।' यम-किंकर भयंकर मुँह बना कर बोले—'चुप दंभी! जीवन भर उपासनाका अभिनय खेल कर भी देवदूतोंकी आशा करता है।' मैंने कहा—'सारा जीवन उपासनामें व्यतीत किया है।' मुझे घसीटते हुये उन्होंने कहा—'अरे मूर्ख! भावोपासकके लिये देवदूत आते हैं, द्रव्य-पूजकके लिये नहीं।'

श्रीपाल-चरित्र-साहित्यके सम्बन्धमें शेष ज्ञातव्य

[ले०—श्री० अगरचन्द नाहटा, सम्पादक 'राजस्थानी']

अनेकान्त वर्ष २ की द्वितीय किरणमें "श्रीपाल चरित्र साहित्य" शीर्षक हमारा लेख प्रकाशित हुआ है। इसमें श्रीपाल चरित्र सम्बन्धी ४६ श्वे० और १५ दि० कुल ६१ ग्रन्थोंकी सूची दी गई है *। उसके पश्चात् उन ग्रन्थों सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य एवं कुछ नवीन साहित्यका पता चला है, उसीका संक्षिप्त परिचय इस लेखमें दिया जा रहा है।

जैनसमाजमें श्रीपालचरित्रका लोकादर दिनोंदिन बढ़ रहा है। अभी कई मास पूर्व कलकत्तेमें मैना सुन्दरी नाटक भी खेला गया था व ग्रामोफोनमें 'मैनासुन्दरी'के नामसे कई रेकार्ड भी निकल चुके हैं। कन्नड भाषाके भी श्रीपाल चरित्रोंका पता चला है।

विशेष ज्ञातव्य—

पूर्व लेखमें श्रीपालचरित्र सम्बन्धी सबसे प्राचीन ग्रंथ सं० १४२८ का बतलाया गया है पर मैनासुंदरी का नाम निर्देश बारहवीं शताब्दीके खरतर गच्छीय विद्वान् आचार्य जिनवल्लभसूरि (स्वर्ग सं० ११६७) के वृद्ध नवकार*में भी मिलता है, अतः श्वेताम्बर समाजमें भी १२वीं शताब्दीके पूर्वका रचित कोई ग्रंथ अवश्य था यह सिद्ध है। पंडित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीके पास दि० भंडारोंकी जो प्राचीन सूचियाँ हैं उनमें भी पंडित नरसेन कृत प्राकृत श्रीपाल चरित्रका उल्लेख है, अतः दि० विद्वानोंको खोजकर प्रकट करना चाहिये कि वह कबका रचित है ? संभवतः वह प्राचीन होगा।

दि० चरित्रोंमें से जिन ग्रन्थोंका केवल उल्लेख ही मिला था पर प्रतियोंका पता पहले मुझे नहीं मिला था उनमें से जिन जिनका पता चला है वे इस प्रकार हैं:-

१ ब्र० नेमिदत्त (सं०) भ० सकलकीत एवं दौलतरामजी की भाषावचनिका की प्रतियाँ जयपुरके दि० भंडारोंमें उपलब्ध हैं।

कलकत्तेके बड़े दि० जैन मंदिरमें सकलकीर्ति और परिमल्ल कवि रचित चरित्रोंकी प्रतियाँ भी मैंने स्वयं देखी हैं उनके सम्बंधमें जो विशेष बातें ज्ञात हुई वे ये

---

* पूर्व लेखमें संख्या ४२।१६ सूचित की है पर रत्नशेखर रचित चरित्रकी ४ टीकाओंके नम्बर बढ़ानेसे ६२ होते हैं, उनमें रैधू कविके चरित्रका उल्लेख दोबार हो गया है उसे देने पर संख्या ६१ होती हैं।

पूर्व लेखमें मुद्रण दोषवश नीचे लिखी महत्वपूर्ण अशुद्धियाँ रह गई हैं पाठक उन्हें सुधार लें। ताकि उस के द्वारा और कोई फिर भूल न कर बैठें—

	अशुद्ध	शुद्ध
पृ० १५५ पंक्ति १३	—२ बड़ी भंडार	लींबड़ी भंडार
पृ० १६१ पंक्ति ११	—रत्नलाल	रत्नलाभ
पृ० १६२ पंक्ति १६	—मगदानन्द	सागरानंद
पृ० १६३ पंक्ति ६	—सं० १४३६	सं० २४३६

* 'मयणासुंदरी' तणीपरे नवपय झाण करंत।
(हमारे प्र० अभयरत्नसार पृ० १५४)

हैः—सकलकीर्ति रचित संस्कृत पद्यमय चरित्रकी २२ पत्रोंकी प्रति सं०१५६१ मार्गशीर्ष शुक्ला ६ शनिवारको लिखित है। इसमें ७ परिच्छेद और कुल श्लोक संख्या ८०४ है।

परमल्ल कविके हिन्दी पद्यमय चरित्रकी ६ प्रतियाँ उक्त मन्दिरमें हैं। ग्रन्थ प्रशस्तिसे पता चलता है कि कविके पूर्वज गोपगिरिके राजा मानके मान्य चांदन चौधरी थे उनके पुत्र रामदासके पुत्र आसकरण बरहिया के आप पुत्र थे और आगरेमें निवास करते थे। प्रस्तुत चरित्र सं० १६५१ आषाढ शुक्ला ८ शु० अकबरके राज्यमें प्रारम्भ किया था।

कलकत्तेके नित्यमणि विनय श्वे० जैन लायब्रेरीमें दि० विद्यानंदि रचित चरित्रकी प्रति अवलोकनमें आई। यह प्रति ३२ पत्रात्मक प्राचीन हैं। चरित्र श्लोकबद्ध है और ११ पटलोंमें क्रमशः १६८, १३५, १४२, ८२, २३३, २१६, २४२, २३१, १४६, १६५, ११५, कुल १६०५ श्लोक हैं। ग्रन्थकर्ताने अपनी परम्परा इस प्रकार बतलाई हैः—कुंदकुंदान्वय गुणकीर्ति-रत्नकीर्ति-प्रभाचंद्र पद्मनंदि शि० देवेन्द्रकीर्ति शि० विद्यानंदि। ग्रन्थके प्रारम्भमें कुंदाकुंदाचार्यादिकी कई श्लोकोंमें प्रशंसा की है। पुष्पिका लेख इस प्रकार हैः—

"ग्रंथ संख्या २०००। संवत् १५३० वर्षे बैशाख बदि ५ शुभ नक्षत्रे। श्री सिद्ध चक्र श्रीपाल चरित्र समाप्त।" कर्त्ताने पूर्व ग्रन्थानुसार रचनेका उल्लेख किया है। पूर्व सूचीमें उल्लिखित दि० वादिचंद्र कृत श्रीपाल व्याख्यानकी प्रशस्ति देखने पर ज्ञात हुआ कि उस ग्रंथके चरित्रनायक हमारे श्रीपालसे भिन्न हैं। कथा के अन्तमें "इति श्री विदेह क्षेत्र श्रीपाल सोभागी चक्रवर्ती हवो तेहनी कथा" ऐसा स्पष्ट निर्देश है।

इसी प्रकार श्वे० विवंदनीक गच्छीय पद्मसुन्दरके श्रीपाल चौपईकी प्रशस्तिसे भी उसका चरित्र नायक हमारे श्रीपालसे भिन्न ही कोई श्रीपाल प्रतीत होता है। यह रास "दान" के महात्म्यपर कथाकोष ग्रन्थके आधारसे रचा गया है, ऐसा ग्रन्थकी अन्त प्रशस्तिसे स्पष्ट है। फिर भी मूलग्रन्थको पूरा पढ़े बिना या उसके आधार भूत कथाकोषको देखे बिना निश्चित रूपसे कुछ कहा नहीं जा सकता।

पूर्व लेखमें सकलकीर्त्ति और ब्रह्मजिनदासके गुरु शिष्य-सम्बन्धके कारण चरित्रोंके एक होनेका अनुमान किया गया था पर वह ठीक नहीं था, क्योंकि दोनोंके भिन्न भिन्न ग्रंथ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार नेमिदत्त और मल्लिभूषणके रचित चरित्र भी भिन्न भिन्न ही होंगे। पं० कैलाशचन्द्रजीकी प्राप्त सूचियोंमें भिन्न भिन्न लिखा मिलता है। नेमिदत्तका तो जयपुर भंडारमें उपलब्ध है ही। पंडितजीकी प्राप्त सूचियोंमें शुभचन्द्रके नामके साथ साथ भट्टारक छोटा विशेषण लगा है। अब अनुपलब्धदि चरित्रोंमें १ नरसेन २ मल्लिभूषण ३ छोटा शुभचन्द्र ४ पं० जगन्नाथ कृत ही रहे हैं, विद्वानोंको उन्हें खोजकर प्रकाश डालना चाहिये।

नवीन ज्ञातसाहित्य

अब पूर्व सूचीमें निर्देशित चरित्रोंके अतिरिक्त जितने साहित्यका पीछेसे पता चला है उसका परिचय दिया जाता है।

श्वेताम्बर

१. श्रीपालचरित्र (सं० गद्य):-लोंकागच्छीय ऋषिकेशव रचित (रचनाकालः—१८७७ आश्विन शुक्ला ४ बालूचर) इसकी प्रति विजयधर्मसूरि ज्ञानमन्दिर

आगराके नं० १५३८में ५६ पत्रोंकी हमारे अवलोकनमें आई है।

२. श्रीपालरासः—गुणसुन्दर (उपरोक्त ज्ञानमंदिरमें ३ प्रतियें नं० ३५८५-८६-८७ पत्र १४, १५, १०)

३. श्रीपालः—गुजराती (गद्य) में जैन आफिससे प्रकाशित

४. श्रीपालः—(संक्षिप्त) धीरजलाल टो० लि० ज्योति कार्यालयसे प्र०

दिगम्बर

१. श्रीपालचरित्र—(सं०), पं० जगन्नाथ कृत० उ० पं० कैलाशचन्द्रजीको प्राप्त प्राचीन सूचियोंमें

२. श्रीपालचरित्र—भाषावचनिका, अमीचंद कृत. जयपुर दि० भंडार

३. श्रीपालचरित्र—भाषावचनिका, विनोदीलाल जयपुर दि० भंडार

४. श्रीपालचरित्र—भाषावचनिका, मू० सकलकीर्त्ति रचित पर जयपुर दि० भंडार कर्त्ता अज्ञात.

५. श्रीपालचरित्र—(हिन्दी पद्यमय) सदासुख (?) कृत० (रचनाकाल सं० १८५७ आषाढ़कृष्णा ६ रवि. संधि ६ छंद २२६४) इसकी १०४ पत्रेकी एक प्रति मैंने कलकत्तेके दि० बड़े मंदिरमें देखी है। कर्त्ताने अपना नाम स्पष्ट नहीं सूचित कर कहीं "सुखकर्न" अन्तके छन्दमें "अतिसुख" इस प्रकार दिया है अतः नाम सुखकरन या सदासुख होनेकी संभावना है। अपने परिचयमें कविने इतना ही कहा है कि "वे पहले पाढिम नगरके निवासी थे फिर सकूराबादमें रहने लगे थे।"

कन्नड भाषा

६. श्रीपालचरित्र—मंगरसइय रचित सं० १५०८

७. ,, देवरस ,, (सं०१७०० लगभग)

८. ,, वर्द्धमान ,, (सं०१६५० ,,)

९. ,, तृतीयगंगरस

१०. ,, इन्द्रदेवकृत भी माना जाता है।

तामिल साहित्यमें भी सम्भव है श्रीपालचरित्र हो पर प्रो० चक्रवर्तीको रिप्लाइ कार्ड देने पर कोई सूचना नहीं मिली। इनमेंसे नं० १ कैलाशचन्द्रजी नं० २,३, ४ की मास्टर मोतीलालजी संघवी, जयपुर, नं० ६ से १० की पं० भुजबलिजी शास्त्रीसे सूचना मिली है एतदर्थ मैं उनको धन्यावाद देता हूँ। अन्य विद्वान भी इसी प्रकार विशेष ज्ञातव्य प्रकट करें यही नम्र विज्ञप्ति है।

अहिंसाका अतिवाद

[ले० श्री दरबारीलालजी सत्यभक्त]

अतिवाद एक ऐसा विष है जो स्वादमें अमृत सरीखा भले ही लगे पर परिपाकमें सर्वनाश ही करता है । इसलिए अहिंसाका भी अतिवाद घोर हिंसा बढ़ाने वाला हो जाता है । इसका एक नमूना मुझे अभी अभी एक जैन पत्रमें पढ़नेको मिला । लेख के लेखक हैं प्रसिद्ध विद्वान श्री कालेलकर, शीर्षक है 'हृदय नो समभाव ।'

लेखकने पशुपक्षियोंकी दयाका चित्रण किया है आनन्दसे उछलने वाले घेंटेकी हिंसाका करुण चित्रण किया है, इस बात पर आश्चर्य प्रगट किया है कि बकरे के अंग खाते समय लोग यह क्यों नहीं विचारते हैं कि इसी सिरमें कैसा उल्लास आनन्द था । इसके बाद अहिंसाकी यह धारा बहते बहते वनस्पतियोंमें पहुँची है । यहाँ तक कि लकड़ियाँ वृक्षोंकी हड्डियाँ कहलाकर दयापात्र बनी हैं इमारतके लिये लकड़ी चीरी जाती है तो लेखकको हड्डी चीरनेका कष्ट होता है इस प्रकार वृक्षके फल खाना और जानवर खाना, दोनोंकी क्रूरता एक ही श्रेणीमें खड़ी कर दी गई है ।

इसमें सन्देह नहीं कि विश्वप्रेमी या परम अहिंसक वृक्षोंकी भी दया करेगा । जैनाचारमें जैन मुनियोंके लिए सूक्ष्म-अहिंसाके पालनके लिये काफी विधान हैं फिर भी जैनधर्मकी अहिंसामें ऐसा अतिवाद या एकान्त दृष्टि नहीं है अनेकान्त दृष्टिने जैनधर्मकी अहिंसाको निरतिवाद या व्यवहार्य बना दिया है ।

वर्षों पहिले जब मैंने जैनशास्त्रोंमें यह पढ़ा कि जिस चीजमें तुम्हें माँसकी कल्पना आजाय वह मत खाओ, तब मैं महात्मा महावीरकी अहिंसाका पाठ पढ़ानेवाली शैलीसे आश्चर्यचकित हो गया । यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी चीज़को अगर तुम माँसकी कल्पना करते हुए खा सकते हो तो एक दिन माँसके प्रति तुम्हारी सहज घृणा नष्ट हो जायगी ।

मुझे याद है कि जब मैं छोटा था तब संक्रान्तिके अवसर पर गड़ियाघुल्ला (शक्करके हाथी घोड़े ऊँट आदि) खाते समय कह बैठता था-मैं इसकी पूंछ खाता हूँ, सिर खाता हूँ आदि । तब पिताजी नाराज होते थे और अन्तमें उन्होंने शक्करके जानवर खरीदना बन्द कर दिया था तबसे वे शक्करके मन्दिर मकान आदि खरीद देते थे । उनने मुझे यह सिखा दिया था कि शक्करमें भी अगर पशुकी कल्पना आ जाय तो उसके खानेमें पाप लगता है ।

जब हम वृक्षकी छाल आदिको पशुके चमड़े, हड्डी, माँस, नस, खून आदि की तुलनामें खड़ा करके अतिवादी भावुकतासे अहिंसाकी साधना करते हैं तब मंत्र-भ्रष्ट साधककी तरह हमारे जीवनमें प्रतिक्रिया होती है । जब हम टमाटरके रससे बकरेके रक्तमाँसकी तुलना करेंगे सूखी बनस्पतिको सूखा माँस और हड्डी समझेंगे, और इनके बिना जीवन-निर्वाह न होनेसे उन्हें खाते भी जाँयगे, तो इसका परिणाम यह होगा कि एक दिन टमाटरकी घृणाकी तरह बकरेके माँसकी घृणा भी शिथिल हो जायगी । इस प्रकार यह अहिंसाका अतिवाद हिंसाके प्रचारमें साधक बन जायगा । विवेकहीन अहिंसाका प्रवाह अशक्यताकी पर्वत श्रेणीसे टकराकर ठेठ हिंसाकी

चरम सीमा तक पहुँचता है। इसीलिये चारित्रके मूलमें भ. महावीरने सम्यग्ज्ञानके होने पर ज़ोर दिया है। विवेकहीन चारित्रको अचारित्र ही नहीं मिथ्याचारित्र तक कहा है। श्री कालेलकर साहिबके लेखमें अहिंसाका ऐसा ही अतिवादीरूप है जिसकी ऐसी प्रतिक्रिया होगी कि उससे रही सही अहिंसा भी बह जायगी।

भगवती अहिंसाका साधक वृक्षोंकी दया भी रक्खेगा और जहाँ जीवन निर्वाहका मौंसाहार सिवाय दूसरा साधन न होगा वहाँ माँसाहारको भी क्षन्तव्य मान लेगा, इतना होने पर भी वह बनस्पति आहार और माँसाहारकी विभाजक रेखाको नष्ट न करेगा, न उसकी चौड़ाई कम करेगा। हृदयके समभावको निर्विवेक न बनायगा।

जैनधर्मने हिंसा अहिंसाका बहुत ही गम्भीर विवेचन किया है। जहाँ उसने जड़ोपम प्राणियोंके सुख दुःखका खयाल रक्खा है वहाँ अहिंसाको व्यवहार्य बनानेके लिये हिंसाकी तरतमताका भी खयाल रक्खा है इसलिये प्राणियोंकी गिनती पर ध्यान न देकर उनकी चैतन्यमात्रा पर ध्यान दिया है। इसलिये बनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पशु आदिकी हिंसामें संख्यगुणा असंख्यगुणा अनन्तगुणा अन्तर बतलाया है। अगर इस प्रकारका विवेक न रक्खा जाय तो अहिंसा अव्यवहार्य होजाय।

जैनधर्मकी इस अनेकान्त दृष्टिको भुला कर जब हम भावुकताके अतिवादसे बकरेकी हिंसा और झाड़ोंकी हिंसाको एक ही कोटिमें लानेकी कोशिश करेंगे, बकरेकी हिंसाकी घृणा वृक्षहिंसामें लागू करना चाहेंगे तो इसका परिणाम यह होगा कि वृक्ष हिंसाकी अघृणा या उपेक्षा बकरेकी हिंसामें आ उतरेगी। इस प्रकारका अतिवादी समभाव रही सही अहिंसाको चौपट न कर जाय इसलिए बनस्पत्याहार और माँसाहारके बीचमें जो खाई है उसको अधिकसे अधिक बड़ी बनानेकी ज़रूरत है।

माँसभक्षीमें दया मानना उससे प्रेम करना आदि एक बात है पर माँसभक्षण और शाकाहारका भेद भुला देना दूसरी बात है। हम दैशिक परिस्थितिका विचार करके, उनकी संस्कृतिका विचार करके या सर्वसाधारणका व्यापक दोष समझ कर माँसाहारियोंको क्षम्य मानें, परन्तु शाकाहार माँसाहारके विषयमें अपनी भावनाओंको अभिन्न न बनायें। इसका खयाल रक्खें कि बनस्पत्याहारमें माँसाहारका संकल्प न आने पावे। इसके लिए इन बातोंका विचार ज़रूरी है।

१—जीवन-निर्वाहके लिए हिंसा तो अनिवार्य है परन्तु विश्वसुखवर्धनका विचार करते हुए अधिक चैतन्यवालेका विचार हमें पहिले करना चाहिए। बनस्पति, कीटपतंग, पशुपक्षी, मनुष्य इन चारोंकी हिंसा को बराबर न मानना चाहिये।

२—बनस्पति आदि स्थावर तथा पशुपक्षी आदि त्रसके वधका प्रकार एकसा नहीं है। अनेक प्रकारका अंगच्छेद पशुओंको नुकसान पहुँचाता है, पर बनस्पतियोंको नुकसान नहीं पहुँचाता।

वृक्षोंके फल अगर हम न तोड़ें तो वृक्ष उन्हें स्वयं फेंक देंगे। और उनके स्थान पर दूसरे फलफूल पत्र पैदा होंगे। पर बकरेमें यह बात नहीं है कि अगर हम उसका सिर न काटेंगे तो वह स्वयं पुराना सिर फेंक कर बसन्तमें नया सिर लगा लेगा।

वृक्षकी शाखा काटने पर उसी जगह दूसरी शाखा उगती है, बहुतसी जगह तो शाखा प्रशाखा न काटने पर उनका विकास ही रुक जाता है। एकबार मैं एक

गुलाबका झाड़ लाया उसे पानी तो अच्छा दिया उसमें नये नये पत्ते भी आये पर कटिंग न किया, धीरे धीरे उसके पत्ते काले पड़ गये और झाड़ उखड़ गया। एक जानकारसे पूछने पर मालूम हुआ कि उसका कटिंग करना जरूरी था। तबसे मैं बराबर कटिंग करता हूँ। कटिंगके बाद ही उसमें बाढ़ होती है फूल आते हैं। बकरेकी टांग काटना ऐसा जरूरी नहीं है, न टांग काटनेसे उसमें बाढ़ आती है। इसलिये अब मैं वृक्षोंके फलों पत्रों आदिको गायके दूधकी तरह ही मानता हूँ। शाखाओंके कटिंगको एक तरहका अपरेशन मानता हूँ। और खास कर गुलाबके कटिंगको तो इसी तरह करता हूँ जैसे छोटे बच्चेके बाल बनवा रहा होऊँ। बकरेकी टांग तोड़ने सरीखी कल्पना मुझे नहीं होती।

जंगलवालोंसे मालूम हुआ कि सागौन आदिके झाड़ काटने पर तीन चार सालमें फिर वैसी ही शाखाएँ तैयार हो जाती हैं अन्यथा पुराने अंग ही जरठ होते रहते हैं। पशु पक्षियोंके अंग कट जाने पर वे इस प्रकार दूने उत्साहसे नहीं बढ़ते।

मेरा मतलब यह नहीं है कि बनस्पतियों तक हमारा दयाभाव न पहुँचे, मतलब इतना ही है कि हम पशु-वधसे उसकी समानता बताने न लग जाँय। अगर हम यह सोचने लगें कि घरके झाड़ोंका काटना तो ठीक, पर जो बेचारे जंगलमें ऊगे हैं उनका क्या अपराध? उनके लिये हमने क्या किया है? इस प्रकार हम जंगलसे लकड़ी लेना बन्द करदें तो शहरोंके महलोंकी बात तो दूर, वे तो शायद लोहा और कांक्रीटके बल पर बन भी जाँय जिनमें वृक्षोंकी हड्डियाँ दिखाई न दें, पर गांवोंकी झोपड़ियाँ मुश्किल हो जाँयगी। बेचारे ग्रामीण लोहा चूना सिमिट कहाँसे लायेंगे। शहर वाले तो बिजलीका बटन दबाकर प्रासुक और शुद्ध भोजन तैयार करलेंगे पर बेचारे गाँव वालोंकी तो वृक्षोंकी हड्डियाँ जलाये बिना गुजर ही नहीं। इस प्रकार अति-वादी अहिंसा भाव अगर बेचारे गरीब लोगोंके मनमें घुस जाय और उसके अनुसार आत्महत्या करनेको अगर वे अपनेको तैयार न पायें, अहिंसाको अव्यवहार्य समझ बैठें, तो शताब्दियोंमें जो थोड़ा बहुत विकास हो पाया है यह ध्वस्त हो जाय। घर घरमें शाक और मांस सब एकाकार हो जाय।

हृदयके समभावको खूब बढ़ाइये, पर समभावके नाम पर हमारे भाव ऐसे अतिवादी न हो जाँय कि कौड़ियाँ गिननेमें हम मुहरें लुटा दें और दोई दीनसे जाँय। अगर कभी भावुकताके उफानसे ऐसे भाव हो भी जाँय तो उन्हें आत्मनेपद ही रक्खें। दुनियाके सामने रखकर उन्हें परस्मैपद बनाना और फिर भी आत्मनेपदकी दुहाई देना चिल्ला चिल्लाकर अपने वर्तमान मौनकी घोषणा करना है।

अन्तमें यही कहना है कि जैनधर्मका अहिंसावाद बहुत सूक्ष्म होकर भी वह निरतिवाद है, व्यवहार्य है, उसमें योग्यायोग्य विवेक है वह प्राणियोंके चैतन्यकी तरतमताके अनुसार हिंसा अहिंसाका विचार करता है और मांसाहार शाकाहारकी विभाजक रेखाको काफी स्पष्ट रखता है। शाकाहारमें मांसाहारकी कल्पना भी नहीं होने देता। यह अहिंसाका विवेकपूर्ण सच्चा रूप है। जिन पत्रोंने श्री कालेलकर साहिबके भावुकता पूर्ण विचार प्रगट किये हैं उनका कर्तव्य है कि वे उनका दूसरा पहलू, जो कि विवेक तथा व्यावहारिकता पर अवलम्बित है अवश्य प्रगट करें। अन्यथा इस प्रकार अहिंसाका अधूरा और अतिवादी विवेचन घोर हिंसाका उत्तेजक होगा।

—सत्य सन्देशसे

प्रभाचन्द्रका तत्वार्थसूत्र

[सम्पादकीय

(गत किरणसे आगे)

छठा अध्याय

त्रिकरणैः कर्म योगः ॥१॥

'तीन करणोंसे (मन-वचन-कायसे) की जाने वाली क्रियाको योग कहते हैं।'

प्रशस्ताप्रशस्तौ ॥२॥

पुण्यपापयोः [हेतू] ॥३॥

'योग प्रशस्त अप्रशस्त दो हैं।'

'प्रशस्त योग पुण्यका अप्रशस्त योग पापका (आस्रव-) हेतु है।'

उमास्वातिके '**शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य**' सूत्रका अथवा श्वे० मान्यताके अनुसार '**शुभः पुण्यस्य**', '**अशुभः पापस्य**' सूत्रोंका जो आशय है वही इन सूत्रोंका है।

गुरुनिन्हवादयो ज्ञानदर्शनावरणयोः* ॥४॥

'गुरुनिन्हव (गुरुका छिपाना) आदि ज्ञानावरण-दर्शनावरणके हेतु हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे मात्सर्य, अन्तराय, आसादन उपघात आदि उन हेतुओंका ग्रहण करना चाहिये जो आगममें वर्णित हैं, और जिनका उमास्वातिने '**तत्प्रदोष-निन्हव**' नामके सूत्रमें उल्लेख किया है।

दुःखत्रा†त्यनुकंपाद्या असाता‡सातयोः ॥५॥

'दुःख आदि असाताके, व्रत्यनुकम्पा आदि साताके हेतु हैं।'

* वरणादयः। † वृ। ‡ थाः साता।

यहाँ 'आदि' शब्दसे असातावेदनीयके आस्रवहेतुओंमें शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवनका और साता वेदनीयके हेतुओंमें दान, सरागसंयम, क्षमा, शौचादिका संग्रह किया गया है। उमास्वातिके दो सूत्र नं० ११, १२ का जो आशय है वही इसका समझना चाहिये। यहाँ सूचनारूपसे बहुत ही संक्षिप्त कथन किया गया है।

के†वल्यादिविवादो (अवर्णवादो ?) दर्शनमोहस्य‡६ *

'केवली आदिका विवाद (अवर्णवाद?)—उन्हें झूठे दोष लगाना—दर्शनमोहका हेतु है।'

यहाँ 'आदि' शब्दके द्वारा श्रुत, संघ, धर्म और देवके अवर्णवादका भी संग्रह किया गया है। यह सूत्र उसी आशयको लिये हुए जान पड़ता है जो उमास्वातिके '**केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य**'सूत्रका है।

कषायजनिततीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥७॥

'कषायसे उत्पन्न हुआ तीव्र परिणाम चारित्रमोहका हेतु है।'

यह सूत्र और उमास्वातिका '**कषायोदयात्तीव्र**' नामका सूत्र प्रायः एक ही हैं—मात्र 'उदयात्' और

† कै। ‡ श्च। * यहाँ मूल पुस्तकमें नं० ७ दिया है जो गलत है; क्योंकि इससे पहिले 'चतुर्विंशतिकामदेवाः' नामका एक सूत्र पुनः गलतीसे नं० ६ पर लिखा गया था, जिसे निकाल देनेका संकेत किया हुआ है; परन्तु उसे निकालने पर आगेके नम्बरोंको बदलना चाहिये था जिन्हें नहीं बदला। इसलिये इस अध्यायके अगले सब नम्बर ग्रन्थप्रतिमें एक एककी वृद्धिको लिए हुए हैं।

'जनित' शब्दोंका अन्तर है ।

बह्वारंभपरिग्रहाद्या नारकाद्यायुष्कहेतवः ॥ ८ ॥

'बहु आरंभ-परिग्रह आदि नारक आदि आयु के हेतु हैं ।'

इस सूत्रमें दो जगह 'आद्य' शब्दका प्रयोग करके नारक आदि चारों ही गतियोंके आस्रव-हेतुओंका एकत्र संग्रह किया गया है, परन्तु दूसरी गतियोंका एक एक भी कारण सूचना एवं दूसरे कारणोंको ग्रहण करनेकी प्रेरणारूपसे साथमें नहीं दिया है, इससे यह सूत्र आवश्यकतासे कहीं अधिक संक्षिप्त और अजीवसा ही जान पड़ता है । यह विषय उमास्वातिने १५ से २१ तक सात सूत्रोंमें वर्णित किया है ।

योगवक्रताद्या अशुभ†नाम्नः ॥ ९ ॥

'योगकी—मन वचन कायकी—वक्रता आदि अशुभ नामके आस्रवहेतु हैं ।'

यहां 'आद्याः' पद बहुवचनान्त होनेसे उसके द्वारा उमास्वातिके २२वें सूत्रमें निर्दिष्ट एकमात्र 'विसंवादन (अन्यथा प्रवर्तन)' का ही ग्रहण नहीं किया जा सकता बल्कि दूसरे कारणोंका भी ग्रहण होना चाहिये । उन कारणोंमें सर्वार्थसिद्धिकारने मिथ्यादर्शन, पैशून्य, अस्थिरचित्तता, कूटमानतुलाकरणको भी बतलाया है । और लिखा है कि सूत्रमें प्रयुक्त हुए 'च' शब्दसे उनका ग्रहण करना चाहिए ।

तद्वैपरीत्यं शुभस्य ॥ १० ॥

'अशुभ नामके आस्रवहेतुओंसे विपरीत—योगकी सरलता और अनुकूल प्रवर्तनादि—शुभ नामके आस्रवहेतु हैं ।

उमास्वातिका 'तद्विपरीतं शुभस्य' सूत्र और यह सूत्र दोनों एक ही हैं ।

दर्शनविशुद्धयादिषोडशभावनास्तीर्थकरत्वस्य ॥११॥

'दर्शन विशुद्ध आदि सोलह भावनाएँ तीर्थंकर नामके आस्रवकी हेतु हैं ।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे आगमप्रसिद्धविनयसम्पन्नता आदि उन १५ भावनाओंका संग्रह किया गया है जिनका उमास्वातिने अपने २४ वें सूत्रमें नामोल्लेखपूर्वक संग्रह किया है ।

आत्मविकत्थ†नाद्या नीचैर्गोत्रस्य ॥ १२ ॥

आत्मश्लाघा (अपनी प्रशंसा) आदि नीचगोत्रके हेतु हैं ।

यहाँ 'आदि' शब्दसे परनिन्दा, सद्गुणोंका उच्छादन और असद्गुणोंका उद्भावन, ऐसे तीन हेतुओंका संग्रह किया गया जान पड़ता है, जो उमास्वातिके 'परात्म निन्दाप्रशंसे' आदि सूत्रमे स्पष्टतया उल्लेखित मिलते हैं ।

तद्व्यत्ययो महतः ॥ १३ ॥

'नीचगोत्रके हेतुओंसे विपरीत—आत्मनिन्दादिक—ऊंच गोत्रके हेतु है ।'

यह सूत्र उमास्वातिके 'तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य' सूत्रके आशयके साथ मिलता जुलता है ।

दानादिविघ्नकरणमंतरायस्य ॥ १४ ॥

'दानादिमें विघ्न करना अन्तराय कर्मके आस्रवका हेतु है ।'

यहां 'आदि' शब्दसे लाभ, भोग, उपभोग, और वीर्यका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि अन्तराय कर्मके दानान्तराय आदि पाँच ही भेद हैं । इस सूत्रमें उमास्वातिके सूत्रसे सिर्फ 'दानादि' शब्द अधिक हैं ।

इति श्रीवृहत्प्रभाचन्द्रविरचिते तत्वार्थसूत्रे षष्ठो‡ध्यायः ॥ ६ ॥

'इस प्रकार श्रीवृहत्प्रभाचन्द्र विरचित तत्वार्थसूत्रमें छठा अध्याय समाप्त हुआ ।'

---

† द्याशुभ

† विकथ । ‡ षष्ठिमो ।

सातवाँ अध्याय

हिंसादिपंचविरतिर्व्रतं ॥ १ ॥

'हिंसादिपंचकसे विरक्त (निवृत्त) होना व्रत है।'

हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह ये पंच पाप कहलाते हैं। इनसे निवृत्त होना ही 'व्रत' है, और इसीलिये व्रतके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ऐसे पाँच भेद हैं। यह सूत्र और उमास्वातिका **'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं'** सूत्र दोनों एक ही टाइप और आशयके हैं। उमास्वातिने प्रसिद्ध पाँचों पापोंके नाम दिये हैं, यहाँ हिंसाके साथ शेषका 'आदि' शब्दके द्वारा संग्रह किया गया है।

महाऽणु* भेदेन तद्द्विविधं ॥ २ ॥

'वह व्रत (व्रतसमूह) महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे दो प्रकारका है।'

यह सूत्र उमास्वातिके दूसरे सूत्र **'देशसर्वतोऽणुमहती'** के समकक्ष है और उसी आशयको लिये हुए है। इसके और पूर्व सूत्रके अनुसार महाव्रतों तथा अणुव्रतोंकी संख्या पाँच पाँच होती है।

तद्दार्ढ्यार्थ भावनाः पंचविंशतिः ॥ ३ ॥

'उन (व्रतों) की दृढताके लिये पच्चीस भावनाएँ हैं।

यह सूत्र उमास्वातिके **'तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच'** सूत्र (नं० ३) के समकक्ष है और उसीके आशय को लिये हुए है। वहाँ प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ बतलाई हैं, तब यहाँ उन सबकी एकत्र संख्या पचीस दे दी है। दिगम्बर पाठानुसार उमास्वातिके अगले पाँच सूत्रोंमें उनके नाम भी दिये हैं, परन्तु यहाँ संख्याके निर्देशसे उनका संकेतमात्र किया गया है। श्वेताम्बर सूत्रपाठमें भी ऐसा ही किया गया है—नामोंवाले अगले पाँच सूत्र नहीं दिये।

मैत्र्यादयश्चतस्रः ॥ ४ ॥

'मैत्री आदि चार भावनाएँ और हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे आगमनिर्दिष्ट प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य नामकी तीन भावनाओंका संग्रह किया गया है। मैत्री सहित ये ही चार प्रसिद्ध भावनाएँ हैं। उमास्वातिने **'मैत्रीप्रमोद०'** नामक सूत्रमें इन चारोंका नाम सहित संग्रह किया है।

श्रमणा*नामष्टाविंशतिर्मूलगुणाः‡ ॥ ५ ॥

'श्रमणोंके अट्ठाइस मूलगुण हैं।'

इस आशयका कोई सूत्र उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र में नहीं है। इसमें जैन साधुओंके मूल गुणोंकी जो २८ संख्या दी है उसमें मूलाचारादि प्राचीन दिगम्बर ग्रंथों के कथनानुसार अहिंसादि पंच महाव्रत, ईर्यादि पंच समितियां, पाँचो इन्द्रियोंका निरोध, सामायिकादि छह आवश्यक क्रियाएँ, अस्नान, भूशयन, केशलोंच, अचेलत्व (नग्नत्व), एकभुक्ति, ऊर्ध्वभुक्ति (खड़े होकर भोजन करना) और अदन्तघर्षण नामके गुणोंका समावेश है।

श्रावकाणामष्टौ ॥६॥

'श्रावकोंके मूलगुण आठ हैं।'

आठ मूल गुणोंके नामोंमें यद्यपि आचार्योंमें कुछ मत-भेद पाया जाता है, जिसके लिये लेखकका लिखा हुआ 'जैनाचार्योंका शासन-भेद' नामका ग्रंथ देखना चाहिये। परन्तु यहाँ चूँकि व्रती श्रावकोंका अधिकार है इसलिये आठ मूलगुणोंमें स्वामी समन्तभद्र-प्रतिपादित पाँच गुणव्रतों और मद्य-माँस-मधुके त्यागको लेना चाहिये। इस आशयका भी कोई सूत्र उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें नहीं है।

---

* ऽनु

* श्रवणा। ‡ मूलगुणा।

शीलसप्तकं च ॥ ७ ॥

'सात शील भी श्रावकोंके गुण हैं।'

सप्त शीलके नामोंमें भी आचार्योंमें परस्पर कुछ मत भेद है *। उमास्वातिने अपने 'दिग्देशानर्थदण्ड' नामक सूत्रमें उनके नाम दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग-परिमाण, अतिथिसंविभाग दिये हैं जब कि कुन्दकुन्दाचार्यने चारित्र प्राभृतमें देशव्रतका ग्रहण न करके सप्तम स्थान पर 'सल्लेखना' का विधान किया है। इसी तरह और भी थोड़ा थोड़ा मतभेद है। यहाँ संभवतः कुन्दकुन्द प्रतिपादित गुणव्रत-शिक्षाव्रतात्मक सप्त शीलोंका ही उल्लेख जान पड़ता है; क्योंकि आगे संन्यास (सल्लेखना) का कोई अलग विधान न करके १० वें सूत्रमें उसके अतीचारोंका उल्लेख किया गया है।

शंकाद्याः † सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ ८ ॥

'शंका आदि सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं।'

यहाँ अतीचारोंकी संख्याका निर्देश न होनेसे 'आदि' शब्दद्वारा जहाँ उमास्वाति-सूत्र-निर्दिष्ट कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तव इन चार अतीचारोंका ग्रहण किया जा सकता है वहाँ सम्यग्दर्शनके निःशंकित अंगको छोड़कर शेष सात अंगोंके प्रतिपक्षभूत कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना नामके दोषों—अतीचारों—का भी ग्रहण किया जा सकता है। सर्वार्थसिद्धिमें अष्ट अंगोंके प्रतिपक्षभूत आठ अतीचार होने चाहियें, ऐसी शंका भी उठाई गई है और फिर उसका समाधान यह कहकर कर दिया है कि ग्रन्थकारने व्रत-शीलादिकके भी पाँच पाँच ही अतीचारोंका अपना क्रम रक्खा है, इसलिये सम्यग्दर्शनके शेष अतीचारोंका प्रशंसा-संस्तवमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। यहाँ 'शंकाद्याः' पद पर आठका अंक दिया है, इससे भी आठ अतीचारोंका ही ग्रहण जान पड़ता है।

बंधाद्योव्रतानां ॥ ९ ॥

'बंध आदिक व्रतोंके अतीचार हैं।'

यहाँ **'व्रतानां'** पदके द्वारा अहिंसादिक सब व्रतोंका और **'आदि'** शब्दके द्वारा उनके पृथक् पृथक् अतीचारोंका संग्रह किया गया है। परन्तु उनकी संख्याका किसी रूपमें भी उल्लेख नहीं किया है। यह सूत्र बहुत ही संक्षिप्त—सूचनामात्र है। इसमें उमास्वातिके २५ से ३२ अथवा ३६ नम्बर तक सूत्रोंके विषयका समावेश किया जा सकता है *।

मित्रस्मृत्याद्याः सं‡न्यासस्य ॥ १० ॥

'मित्रस्मृति आदि संन्यास (सल्लेखना) के अतीचार हैं।'

यहाँ भी अतीचारोंकी संख्याका कोई निर्देश नहीं किया। 'आदि' शब्दसे सुखानुबन्ध, निदान नामके अतीचारोंका और क्रम-व्यतिक्रम करके यदि ग्रहण किया जाय तो जीविताकांक्षा तथा मरणाकांक्षाका भी ग्रहण किया जा सकता है, जिन सबका उमास्वातिके **'जीवितमरणाशंसा'** इत्यादि सूत्रमें उल्लेख है।

स्वपरहिताय स्वस्यातिसर्जनं दानं ॥ ११ ॥

'अपने और परके हितके लिये अपनी वस्तुका त्याग करना दान है।'

यह सूत्र उमास्वातिके **'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो**

---

* देखो, जैनाचार्योंका शासनभेद, गुणव्रत और शिक्षाव्रत प्रकरण पृ० ४१ से ६४।

† द्या।

* श्वेताम्बरीय सूत्रपाठके अनुसार ये सूत्र नं० २० से प्रारंभ होते हैं और ३१ तक हैं।

‡ न्यास।

दानं' इस सूत्रके समकक्ष है। दोनोंका आशय एक ही है। इस सूत्रका 'स्वपरहिताय' पद उमास्वातिके 'अनुग्रहार्थं' पदसे अधिक स्पष्ट जान पड़ता है।

इति प्रभाचन्द्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे सप्तमोध्यायः ॥ ७ ॥

'इस प्रकार प्रभाचन्द्रविरचित तत्त्वार्थसूत्रमें सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।'

आठवाँ अध्याय

मिथ्यादर्शनादयो बंधहेतवः ॥ १ ॥

'मिथ्यादर्शन आदि बन्धके कारण हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे आगम-कथित उन अविरत, प्रमाद, कषाय और योग नामके बन्धहेतुओंका संग्रह किया गया है, जिनका उमास्वातिने भी अपने इसी अध्यायके पहले सूत्रमें नामनिर्देशपूर्वक संग्रह किया है।

चतुर्धा बन्धाः ॥ २ ॥

'बन्ध चार प्रकारका होता है।'

यहाँ चारकी संख्याका निर्देश करनेसे आगम-निर्दिष्ट प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशबन्ध नामके चारों बन्धोंका संग्रह किया गया है। और इसलिये यह सूत्र और उमास्वातिका **'प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः'** सूत्र दोनों एक ही आशयको लिये हुए हैं।

मूलप्रकृतयोऽष्टौ ॥ ३ ॥

'मूल प्रकृतियाँ आठ हैं।'

आगम-कथित कर्मोंकी मूल आठ प्रकृतियाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम और गोत्र हैं, और इसलिये इस सूत्रका वही आशय है जो उमास्वातिके **'आद्यो ज्ञानदर्शनावरण'** इत्यादि सूत्रका है।

उत्तरा अष्ट† चत्वारिंशच्छतं‡ ॥ ४ ॥

'उत्तर प्रकृतियाँ एकसौ अड़तालीस हैं।'

ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावरणकी ६, वेदनीयकी २, मोहनीयकी २८, आयुकी ४, नामकी ९१, गोत्रकी २ और अन्तरायकी ५ प्रकृतियाँ मिलकर उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या १४८ होती है। उमास्वातिने मूल प्रकृतियोंके नामाऽनन्तर उत्तर प्रकृतियोंकी संख्याका निर्देशक जो सूत्र **'पंचनवद्व्यष्टाविंशति'** इत्यादि दिया है उसमें नाम कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या ४२ बतलाते हुए उत्तर प्रकृतियोंकी कुल संख्या ९७ दी है। नामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृतियोंको भी शामिल करके उत्तर प्रकृतियोंकी कुल संख्या १४८ हो जाती है। उन्हीं सब उत्तर प्रकृतियोंका यहाँ निर्देश है।

ज्ञानावरणादित्रयस्यांतरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः पराध्या (परा?) स्थितिः ॥५॥

'ज्ञानावरणादि तीन कर्मोंकी और अन्तरायकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडा कोडी सागरकी है।'

यह सूत्र उमास्वातिके **'आदितस्तिसृणामन्तरायस्य'** इत्यादि सूत्रके समकक्ष है और उसी आशयको लिये हुए है।

मोहनीयस्य सप्ततिः ॥६॥

'मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तरकोडाकोडी सागर की है।'

उमास्वातिके सूत्रमें **'सप्ततिः'** पद पहले और **'मोहनीयस्य'** पद बादमें है।

त्रयस्त्रिंशदे*वायुषः ॥७॥

'आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस ही सागर की है।

यह सूत्र उमास्वातिके **'त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः'** सूत्रके समान है। इसमें प्रयुक्त हुआ 'एव' शब्द

† उत्तराष्ट। ‡ त्। * दे।

कोटी कोटिकी निवृत्यर्थ जान पड़ता है।

नामगोत्रयोर्विंशतिः‡ ॥८॥

'नाम और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडा कोडी सागरकी है।

यह सूत्र उमास्वातिके **'विंशतिर्नामगोत्रयोः'** सूत्र के बिल्कुल समकक्ष है। परन्तु यह सूत्र नम्बर ७ पर होना चाहिये; क्योंकि ८ वें नम्बर पर होनेके कारण इस में वर्णित स्थिति पूर्व सूत्रके सम्बन्धानुसार २० सागरकी हो जाती है—२० कोडाकोडी सागरकी नहीं रहती—और यह सिद्धान्त शास्त्रके विरुद्ध है।

इति श्रीवृहत्प्रभाचंद्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे अष्टमोध्याय ॥८॥

'इस प्रकार श्री वृहत्प्रभाचंद्र विरचित तत्त्वार्थ सूत्र में आठवां अध्याय समाप्त हुआ।'

नववाँ अध्याय

गुप्त्यादिना संवरः ॥१॥

'गुप्ति आदिके द्वारा संवर (कर्मास्रवका निरोध) होता है।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र नामके आगम कथित संवर-भेदोंका उनके उपभेदों-सहित संग्रह किया गया है, और इस लिये इस सूत्रका विषय बहुत बड़ा है। उमास्वातिका **'सगुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचरित्रैः'** नामका सूत्र इसी आशयका स्पष्टतया व्यंजक है। उनके तत्त्वार्थसूत्रमें गुप्ति आदिके उपभेदोंका भी अलग अलग सूत्रों में निर्देश किया गया है, जब कि यहाँ वैसा कुछ भी नहीं है।

तपसा निर्जराऽपि ॥२॥

'तपसे निर्जरा भी होती है।'

यह सूत्र और उमास्वातिका दूसरा सूत्र दोनों प्रायः एक ही है—वहाँ 'च' शब्दका प्रयोग है तब यहाँ उस के स्थान पर 'अपि' शब्दका प्रयोग है। अर्थमें कोई भेद नहीं। तपसे संवर और निर्जरा दोनों ही होते हैं, यह 'च' और 'अपि' शब्दोंके प्रयोगका अभिप्राय है।

उत्तमसंहननस्यांतर्मुहूर्तावस्थापि ध्यानं ॥३॥

'उत्तम संहननवालेके ध्यान अन्तर्मुहूर्त पर्यंत अवस्थित रहने वाला होता है।'

ध्यान अन्तरंग तपका एक भेद है, वह ज्यादासे ज्यादा अन्तर्मुहूर्त—एक मुहूर्त—पर्यन्त ही स्थिर रहने वाला होता है, और वह भी उत्तम संहनन वालेके। हीन संहननवालेका ध्यान किसी भी विषय पर एक साथ इतनी देर तक नहीं ठहर सकता। उमास्वातिका **'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानमान्तर्मुहूर्तात्'** यह २७वाँ* सूत्र भी इसी आशयका है। विशेषता इतनी ही है कि उमास्वातिने **'एकाग्रचिन्तानिरोधः'** पदके द्वारा ध्यानका स्वरूप भी साथमें बतला दिया है।

तच्चतुर्विधं ॥४॥

'वह ध्यान चार प्रकारका है।'

यहाँ चारकी संख्याका निर्देश करनेसे आगमप्रसिद्ध आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ऐसे चारों भेदोंका संग्रह किया गया है। उमास्वातिका इसके स्थान पर **'आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि'** सूत्र है, जो ध्याननामोंके स्पष्ट उल्लेखको लिये हुए है।

आद्यं संसारकारणे ॥५॥

परे मोक्षस्य ॥६॥

---

‡ ति।

* श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें 'ध्यानम्' तकके अंशको २७ वाँ सूत्र और 'आमुहूर्तात्' को २८ वाँ सूत्र बतलाया है।

'पहले दो (आर्त, रौद्र) ध्यान संसारके कारण हैं।'

'दूसरे दो (धर्म्य, शुक्ल) मोक्षके कारण हैं।'

उमास्वातिने इन दोनों सूत्रोंके स्थान पर 'परे मोक्ष-हेतू' नामका एक ही सूत्र रक्खा है और उसके द्वारा दूसरे दो ध्यानोंको मोक्षका हेतु बतलाया है, जिसकी सामर्थ्यसे पहले दो ध्यान स्वतः ही संसारके हेतु हो जाते हैं। यहाँ स्पष्टतया संसार और मोक्षके हेतुओंका अलग अलग निर्देश कर दिया है।

पुलाकाद्याः‡ पंचनिर्ग्रन्थाः ॥ ७॥

'पुलाक आदि पाँच निर्ग्रन्थ हैं।'

यहाँ पाँचकी संख्याके निर्देशपूर्वक 'आदि' शब्द-से आगमप्रसिद्ध बकुश, कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक नामके चार निर्ग्रन्थोंका [illegible] किया गया है। उमास्वातिने 'पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः' इस सूत्रमें पाँचोंका स्पष्ट नामोल्लेख किया है।

इति बृहत्प्रभाचन्द्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे नवमोध्याय॥ ९॥

'इस प्रकार बृहत्प्रभाचन्द्रविरचित तत्त्वार्थसूत्रमें नववाँ अध्याय समाप्त हुआ।'

दसवां अध्याय

मोहक्षये घातित्रयापनोदात्केवलं ॥ १॥

'मोहनीय कर्मका क्षय होने पर तीन घातिया कर्मों ज्ञानावरण दर्शनावरण, अन्तराय—के विनाशसे केवल ज्ञान होता है।'

यह सूत्र उमास्वातिके 'मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' इस प्रथम सूत्रके बिलकुल समकक्ष है। दोनों एक ही आशयको लिये हुए हैं।

अशेषकर्मक्षये मोक्षः ॥ २॥

'सब कर्मोंका क्षय होने पर मोक्ष होता है।'

इस सूत्रके स्थान पर उमास्वातिका दूसरा सूत्र 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ⚹' है, जिसमें 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां' यह कारण निर्देशात्मक पद अधिक है। और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि अशेष कर्मोंका विनाश बन्धके हेतुओंके अभाव और संचित कर्मोंकी निर्जरासे होता है।

तत ऊर्ध्वं गच्छत्या‡ लोकांतात् ॥ ३॥

'तत्पश्चात् (मोक्षके अनन्तर) मुक्त जीव लोकके अन्त तक गमन करता है।'

यह सूत्र उमास्वातिके पांचवें सूत्र 'तदनन्तर मूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्'के बिल्कुल समकक्ष है तथा एकार्थक है और उससे तीन अक्षर कम हैं।

ततो न गमनं धर्मास्तिकायाभावात्⚹ ॥ ४॥

'लोकके अन्तिम भागके परे अलोकमें गमन नहीं है, क्योंकि वहां धर्मास्तिकायका अभाव है।'

यह सूत्र उमास्वातिके 'धर्मास्तिकायाभावात्' सूत्रके समकक्ष है—मात्र 'ततो न गमनम्' पदोंकी विशेषताको लिये हुए है, जो अर्थको स्पष्ट करते हैं।

क्षेत्रादिसिद्धभेदाः साध्याः ॥ ५॥

---

‡ द्या

⚹श्वे० सूत्र पाठमें यह सूत्र दो सूत्रोंमें विभक्त है। इसका पहला पद दूसरा सूत्र और शेष दो पद 'विप्रमोक्षो' के स्थान पर 'क्षयो' पदकी तबदीलीके साथ तीसरा सूत्र है।

‡ त्या।

⚹ कायत्वात्।

'क्षेत्र आदिके द्वारा सिद्धभेद साध्य हैं—विकल्पनीय—हैं ।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे उन आगमोदित काल, गति, लिंग, तीर्थ, प्रत्येकबोधित, बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व भेदोंका संग्रह किया गया है जिनके द्वारा सिद्धोंमें नयविवक्षासे विकल्प किया जाता है—उन्हें भेदरूप माना जाता है—और जिनका उल्लेख उमास्वातिने अपने 'क्षेत्रकालगति··· बहुत्वतःसाध्याः' सूत्रमें किया है । और सर्वार्थसिद्धिकारादिने जिनका विशेष विवेचन किया है ।

इति श्री वृहत्प्रभाचंद्राचार्यविरचिते† तत्त्वसारे सूत्रे दशमोध्यायः ॥१०॥

इति जिनकल्पिसूत्रं‡ समाप्तं ॥

'इस प्रकार वृहत्प्रभाचन्द्राचार्य विरचित तत्त्वार्थसार सूत्रमें दसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।'

'इस प्रकार जिनकल्पी सूत्र समाप्त हुआ ।'

वीरसेवा-मन्दिर, सरसावा, ता० २१-४-१९४०

† विविरचिते । ‡ जिनकल्पी सूत्र

परमाणु !

[रच०—श्री०चैनसुखदास न्यायतीर्थ]

अजब हैं तेरे सब व्यापार !

(१)

तू अनित्य औ' नित्य कथञ्चित् ।
कभी न मिलता तुझसे सञ्चित्
बन जाता जब स्कन्ध बन्ध-मय
हो जाता सविकार ।

(२)

आदि-मध्य-अवसान न होता
फिर भी तू षट्कोण कहाता
साँख्य पतञ्जलिकी तन्मात्रा
तू तन्मय संसार ।

(३)

यह अनन्त रचना सब तेरी
विश्व-प्रकृति है तेरी चेरी
जल-थल-सूरज-चन्द्र आदिमें
तेरा ही विस्तार ।

(४)

स्पर्श द्वय-रस-गन्ध-रूप-मय
विश्वोदय औ' लयका आलय
पा अनन्त परिवर्तन, फिर भी—
रहता है अविकार ।

(५)

शाङ्कर-छिद्र सहित बतलाते
छिद्र रहित सब दर्शन गाते
तुझे बताते विधि-विधानमें
आदि-अन्तका द्वार ।

(६)

सर्व तन्त्र-सिद्धान्त बनाते
तुझे तत्ववेत्ता बतलाते
विविध क्रिया-गतिका आश्रय तू
अवयवि का है सार ।

परवार जातिके इतिहास पर कुछ प्रकाश

[ले०—श्री पं० नाथूरामजी 'प्रेमी']

उपोद्घात

इस समय इस बातकी चर्चा बड़े ज़ोरों पर है कि परवार जातिका एक इतिहास तैयार किया जाय। अपनी प्राचीनता और गत-गौरवकी कहानी जाननेकी किसे इच्छा नहीं होती? परन्तु वास्तवमें जिसे इतिहास कहते हैं उसका लिखना इतना सहज नहीं है जितना कि लोग समझते हैं। जातियोंका इतिहास लिखना तो और भी कठिन है। क्योंकि इसके लिए जो उपयोगी सामग्री है अभी तक उसे प्रकाशमें लानेकी ओर ध्यान ही नहीं दिया गया है। फिर भी जो कुछ सामग्री मिल सकी है उसके आधर पर मैं इस लेखमें कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न करूँगा।

परवार जातिका परिचय और उसके भेद

लेख शुरू करनेके पहले यह ज़रूरी है कि परवार जातिका थोड़ा सा परिचय दे दिया जाय। इस बारेमें हमें इतना ही कहना है कि वैश्योंकी जो सैकड़ों जातियाँ है, परवार जाति भी उन्हींमें से एक है। बुंदेलखण्ड, मध्यप्रदेशके उत्तरीय ज़िले, मालवेकी ग्वालियर और भोपाल आदि रियासतोंके कुछ हिस्से, प्रधानतासे इन्हींमें यह जाति आबाद है। दि० जैन डायरेक्टरी (सन् १९१४) के अनुसार परवारोंकी जनसंख्या लगभग ४२ हज़ार है। साहूकारी, जमींदारी, दूकानदारी और बज़ाज़ी इस जातिकी मुख्य जीविकाएँ हैं। रंग रूप और शरीर-संगठनसे यह शुक्ल वर्ण आर्य जाति ही मालूम होती है। जैनधर्मके दिगम्बर सम्प्रदायकी यह अनुयायिनी है। अन्य जातियोंके समान न इसमें कोई श्वेताम्बर सम्प्रदायका अनुयायी है और न जैनेतर सम्प्रदायोंका। हाँ, इसमें कुछ लोग तारन पंथके अनुयायी अवश्य हैं जो 'समैया' कहलाते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायकी और सब बातोंको मानते हुए भी मूर्ति-पूजा नहीं करते, केवल शास्त्रोंको पूजते हैं और वे शास्त्र गिनतीमें चौदह हैं, जिन्हें विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीमें तारनस्वामी नामक एक संतने रचा था।

परवारोंके अठसखे, छहसखे, चौसखे और दोसखे ये चार भेद किसी समय हुए थे, जिनमें से इस सम केवल अठसखे और चौसखे रह गये हैं। सुना जाता है कि दोसखे परवारोंके भी कुछ घरोंका अस्तित्व है, परन्तु हमें उनका ठीक पता नहीं है।

जातियोंकी उत्पत्ति कैसे होती है?

परवार जातिकी उत्पत्ति पर गहराईसे विचार करनेके लिए यह ज़रूरी है कि पहले यह जान लिया जाय कि भारतवर्षकी उसके समान अन्य जातियोंकी उत्पत्ति कैसे होती रही है। इसके लिए पहले हम भगवज्जिनसेनाचार्यका मत उद्धृत करते हैं। भगवज्जिनसेनके कथनानुसार पहले मनुष्य जाति एक ही थी, पीछे जीविकाओंके भेदके कारण वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार भेदोंमें बँट गई।‡

‡ आदिपुराण पर्व २८ श्लोक ४५।

महाभारतके शान्तिपर्वमें भी यही बात कही गई है ॐ। परन्तु इस समय भारतवर्षमें सब मिला कर २७३८ जातियाँ हैं। अब प्रश्न यह होता है कि मूलके उक्त चार वर्णोंमें से ये हज़ारों जातियाँ कैसे बन गईं? इस विषयमें इतिहासकारोंने बहुत कुछ छानबीन की है। हम यहाँ जाति बननेके कारण बहुत ही संक्षेपमें बतलाएँगे।

कुछ जातियाँ तो भौगोलिक कारणोंसे-देश प्राँत-नगरोंके कारण बनी हैं। जैसे ब्राह्मणोंकी औदीच्य, कान्यकुब्ज, सारस्वत, गौड़ आदि जातियाँ और वैश्योंकी श्रीमाली, खण्डेलवाल, पालीवाल या पल्लीवाल, ओसवाल, मेवाड़ा, लाड आदि जातियाँ। उदीची अर्थात् उत्तर दिशाके औदीच्य, कान्यकुब्ज देशके कान्यकुब्ज या कनबजिया, सरस्वती तटके सारस्वत और गौड़ देश या बंगालके गौड़। इसी तरह श्रीमाल नगर जिनका मूल स्थान था वे श्रीमाली कहलाये, जो ब्राह्मण भी हैं, वैश्य भी हैं और सुनार भी हैं। इसी तरह खंडेलाके रहनेवाले खंडेलवाल, पालीके रहनेवाले पालीवाल या पल्लीवाल, ओसियाके ओसवाल, मेवाड़के मेवाड़ा, लाट (गुजरात) के लाड आदि। यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि जब किसी राजनीतिक या धार्मिक कारणसे कोई समूह अपने प्राँत या स्थानका परिवर्तन करके दूसरे स्थानमें जाकर बसता था, तबसे ये नाम प्राप्त होते थे और नवीन स्थानमें स्थिर-स्थावर हो जाने पर धीरे धीरे उनकी एक स्वतंत्र जाति बन जाती थी। उदीची या उत्तरके ब्राह्मणोंका दल जब गुजरातमें आकर बसा तब यह स्वाभाविक था कि वह अपने जैसे अपने ही दलके लोगोंके साथ सामाजिक सम्बन्ध रक्खें और अपने दलको औदीच्य कहें ॐ। कुछ जातियाँ सामाजिक कारणोंसे बन गई हैं जैसे प्रत्येक जातिके दस्सा, बीसा, पाँचा आदिभेद और परवारोंके चौसखे, दोसखे आदि शाखायें। कुछ जातियाँ विचार भेदसे या धर्मसे बन गई हैं जैसे वैष्णव और जैन; खंडेलवाल, श्रीमाल, पोरवाड़, गोलापूरव आदि।

पेशोंके कारण बनी हुई भी बीसों जातियाँ हैं, जैसे सुनार, लुहार, धीवर, बढ़ई, कुम्हार, चमार आदि ×। इन पेशेवाली जातियोंमें भी फिर प्राँत, स्थान, भाषा आदिके कारण सैकड़ों उपभेद हो गये हैं।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवालने अपने 'हिन्दू-राजतन्त्र' नामक ग्रन्थमें बतलाया है कि कई जातियाँ प्राचीन कालके गणतंत्रों या पंचायती राज्योंकी अवशेष हैं, जैसे पंजाबके अरोड़े (अरट्ट) और खत्री (क्सथ्रोई) और गोरखपुर आजमगढ़ ज़िलेके मल्ल आदि। अभी अभी डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकारने अग्रवाल जातिके इतिहासमें यह सिद्ध किया है कि अग्रवाल लोग 'आग्रेय' गणके उत्तराधिकारी हैं। ये गणतंत्र एक तरहके पंचायती राज्य थे और अपना शासन आप ही करते थे। कौटिल्यने अपने अर्थ-शास्त्रमें इन्हें 'वार्ताशस्त्रोपजीवी' बतलाया है। 'वार्ता' का अर्थ कृषि, पशुपालन और वाणिज्य है। ये तीनों कर्म वैश्योंके हैं। इसके साथ शस्त्र-धारण भी वे करते थे।

ॐ शाँतिपर्व अ० १८८ श्लोक १०।

* अनहिलवाड़ाके सोलंकी राजा मूलराज (ई० ६६१-६६६) ने यज्ञके लिये जिन ब्राह्मण परिवारोंको उत्तर भारतसे बुलाकर अपने यहाँ बसाया था, उन्हें ही औदीच्य कहते हैं।

× इनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें भी मिलता है, परन्तु वह केवल पेशेकी पहचानके रूपमें, वर्तमान जातिरूपमें नहीं। जैसे यूरोपके लुहार बढ़ई आदि।

जब इनकी स्वाधीनता छिन गई और एकतंत्र राज्योंमें इनको समाप्त कर दिया, तब ये शस्त्र छोड़कर केवल वैश्य कर्म ही करने लगे और अब उनमें से कितने ही पुराने नामोंको लिए हुए जातिके रूपमें अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। संभव है कि अन्य वैश्य जातियोंके विषयमें भी खोज करनेपर उनका मूल भी अरोड़ा, खत्री, मल्ल आदि जातियों के समान प्राचीन गणतंत्रोंमें मिल जाय *। इस विषयमें यह भी संभव है कि कई बार स्थान-परिवर्तनके कारण नये स्थानों परसे नये नाम प्रचलित हो गये हों और पुराने गणतंत्र वाले नाम भूल गये हों।

परवारोंके विषयमें प्रचलित मान्यताओंका खंडन और अपने मतका स्थापन

परवार जातिके विषयमें अधिक खोज करनेसे पहले यह जरूरी है कि इसके सम्बन्धमें प्रचलित मान्यताओं का विचार किया जाय।

'परवार' शब्दको बहुतसे लोग 'परिवार' का अपभ्रष्ट रूप बतलाते हैं जिसका अर्थ कुटुम्ब होता है। कोई यह भी कल्पना करते हैं कि शायद परवार 'परमार' राजपूतोंमेंसे हैं, जिन्हें आजकल पंवार भी कहते हैं। परन्तु ये सब कल्पनायें हैं। मूल शब्दसे अपभ्रष्ट होनेके भी कुछ नियम हैं और उनके अनुसार 'परमार' से 'परवार' नहीं बन सकता। अपभ्रंशमें 'म' का कुछ अंश शेष रहना चाहिए जैसा कि 'पँवार' में वह अनुस्वार बनकर रह गया है। हमारी समझमें परवार† शब्द पल्लीवाल, ओसवाल, जैसवाल जैसा ही है और उसमें नगर या स्थानका संकेत सम्मिलित है। महतरों या महाब्राह्मणोंसे जो परवारोंकी उत्पत्तिका अनुमान किया है वह तो निराधार और हास्यास्पद है ही, इस लिये उस पर कुछ लिखनेकी जरूरत ही नहीं मालूम होती।

अगर हम 'परवार' शब्दके अन्तका 'वार' 'वाट' के अर्थमें लें तो यह सिद्ध करना ज़रूरी है कि इस समय परवार जातिका जहाँ आवास है वहाँ वह किसी समय कहीं अन्यत्रसे आकर बसी है। उसे वर्तमान आवास स्थानमें आये हुए कई शताब्दियाँ बीत गई हैं इसलिए उनके रहन-सहन, रीति-रिवाजोंमें पहले कुछ खोज निकालना, अशक्य सा है, फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनसे बाहरसे आनेका अनुमान ज़रूर हो सकता है। सबसे पहली बात पंचायती संगठन है। बुंदेलखंड और मध्यप्रदेशमें शायद ही कोई ऐसी मूल जाति हो जिसमें इस तरहका पंचायती अनुशासन हो यह अनुशासन उन्हीं जातियोंमें होना स्वाभाविक है जो कहीं अन्यत्रसे आकर बसती हैं और जिन्हें दूसरोंके बीच अपना स्थान बनाकर रहना पड़ता है या जो गणतंत्रोंकी अवशेष हैं। इनके व्याह शादी आदिके रीति-रिवाज भी अन्य पड़ोसी जातियोंसे निराले हैं। ब्राह्मणोंको इस जातिने अपने सामाजिक और धार्मिक कार्योंसे बिल्कुल बहिष्कृत कर दिया है। यहाँ तक कि उनके हाथका भोजन भी ये नहीं करते। यदि ये जहाँ हैं वहींके रहने वाले होते, तो ब्राह्मणोंका प्रभाव इनपर भी होता जो प्रत्येक प्रांतकी प्रत्येक जातिमें परम्परागत रहा है। इनकी स्त्री-पुरुषोंकी पोशाकमें भी विशेषता थी, जो अब लुप्त हो रही है। हमारी समझमें घाँघरा,

*इस विषयकी विशेष जानकारीके लिए देखो स्वर्गीय म० म० के० पी० जायसवाल कृत 'हिन्दू राज्यतंत्र'।

† परवार, पल्लीवाल वगैरह शब्दोंका 'वार' या 'वाल' शब्द संस्कृतके 'वाट' या 'पाट' प्रत्ययसे बना है। देखो आगे इसी विषयकी एक टिप्पणी।

चूनरी और तनीदार चोली परवार स्त्रियोंकी ही विशेषता थी, जो पड़ोसी जातियोंमें नहीं थी और यदि थी तो इन्हींके अनुकरण-पर।

परवार जाति बाहरसे आकर बसी है, इसके अन्य प्रमाण इसी लेखमें अन्यत्र मिलेंगे।

परवार जातिका प्राचीन नाम

अब देखना चाहिए कि प्राचीन लेखोंमें इस जाति का नाम किस रूपमें मिलता है। मेरे सन्मुख परवारों द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओं और मन्दिरोंके जो थोड़ेसे लेख हैं, उनमें से सबसे पहला लेख अतिशय क्षेत्र 'पचराई' के शांतिनाथके मन्दिरका है जो वि० सं० ११२२ का है। उसका यह अंश देखिए—

पौरपट्टान्वये शुद्धे साधुनाम्ना महेश्वरः।
महेश्वररेव विख्यातस्तत्सुतः ध(मं) संज्ञकः॥ ❀

अर्थात् पौरपट्ट वंशमें महेश्वरके समान साहु महेश्वर थे जिनका पुत्र ध (मं) नाम का था।

दूसरा लेख चंदेरीके मन्दिरकी पार्श्वनाथकी प्रतिमा पर इस तरह है:—

"संवत् १२५२ फाल्गुन सुदि १२ सोमे पौरपाटान्वये साधु यशहृद रुद्रपाल साधु नालु भार्यायनि······ पुत्र सोलू भीमू प्रणमंति नित्यम्।"

साहु सोलु भीमूने सं० १२५२ में यह प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी और वे पौरपाट अन्वय या वंशके थे।

तीसरा लेख प्रानपुरा (चँदेरी) की एक प्रतिमाका है—

"संवत् १३४५ आषाढ़ सुदि २ बुधौ (धे) श्री मूल संघे भट्टारक श्रीरत्नकीर्तिदेवाः पौरपाटान्वये साधुदा हृद भार्यावानी सुतश्च सौ प्रणमति नित्यं।"

इसमें भी मूर्ति प्रतिष्ठित करनेवाले पौरपाट अन्वयके हैं।

स्पष्ट मालूम होता है कि इन लेखोंमें 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' शब्द परवारोंके लिए ही आया है क्योंकि इन प्रांतोंमें जैनियोंमें परवार लोग ही ज़्यादा हैं। फिर भी अगर इस पर शंका की जाय कि पौरपट्ट या पौरपाट वंश परवार ही है, इसका क्या प्रमाण? तो इसके लिए चन्देरीकी श्री ऋषभदेवजीकी मूर्तिका यह लेख देखिए—

संवत् ११०३× वर्षे माघ सुदी ६ बुधौ (धे) मूलसंघे भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेव–शिष्य–देवेन्द्रकीर्ति पौरपाट अष्टशाखा आम्नाय सं० थणऊ भार्या पु तत्पुत्र सं० कालि भार्या आमिणि तत्पुत्र सं० जैसिंघ भार्या महासिरि तत्पुत्र सं०············"

इसी तरह का लेख देवगढ़ में है ❀ जिसका एक अंश ही यहाँ दिया जाता है—

"संवत् १४६३ शाके १३५८ वर्षे वैशाख बदि ५ गुरौ दिने मूलनक्षत्रे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेवाः तच्छिष्य वादिवादीन्द्रभट्टारक श्री पद्मनन्दिदेवाच्छिष्य श्री देवेन्द्रकीर्तिदेवाः पौरपाटान्यवे अष्ट–

❀ यह लेख पचराई तीर्थकी रिपोर्टमें छपा है। इस का कटिंग बाबू ठाकुरदासजी बी० ए० टीकमगढ़ने कृपा करके मेरे पास भेज दिया है। उसके नीचे छपा है, 'पुरातत्वविभाग ग्वालियरसे प्राप्य'। इस निबन्धके अन्य प्रतिमा-लेख भी उक्त बाबू सा० की कृपासे ही प्राप्त हुए हैं। लेखोंकी कापी सावधानीसे नहीं की गई है। पढ़नेमें भी भ्रम हुआ है।

× यह संवत् शायद १४६३ हो। प्रतिलिपि करने वाले ने गलत पढ़ लिया है, ऐसा जान पड़ता है।

❀ यह लेख हमें बाबू नाथूरामजी सिं० की कृपासे प्राप्त हुआ है। इसकी नकल बहुत ही अशुद्ध की हुई है।

शाखे आहारदानदानेश्वर सिंघई लक्ष्मणतस्य भार्या-अखयसिरिकुक्षिसमुत्पन्न अर्जुन... ।"

उक्त लेखोंमें 'पौरपाट' के साथ 'अष्टशाखा' लिखा गया है और चूंकि आठसखा परवार ही होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'पौरपाट' शब्द 'परवार' जातिके ही लिये प्रयुक्त किया गया है।

अब एक और लेखांश देखिये जो पपौराजीके भौंहरेके मन्दिरके दक्षिण पार्श्वके मन्दिरकी एक प्रतिमा पर खुदा है।

.........'संवत् १७१८ वर्षे फाल्गुने मासे कृष्णपक्षे ....श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री ६ धर्मकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री ६ पद्मकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री ६ सकलकीर्तिरुपदेशेनेयं प्रतिष्ठीकृता तद्गुरूराचोपाध्याय नेमिचन्द्रः पौरपट्टे अष्टशाखाश्रये धनामूले कासिल्ल गोत्रे साहु अधार भार्या लालमती.........*'

एक और लेख थूबोनजीकी एक प्रतिमा पर इस प्रकार है—

"सं० (१६) ४५ माघ सुदी ५ श्री मूलसंघे कुंदकुन्दाचार्यान्वये भ० यशकीर्ति पट्टे भ० श्री ललितकीर्ति पट्टे भ० श्री धर्मकीर्ति उपदेशात पौरपट्टे छितिरामूर गोहिल गोत्र साधु दीनू भार्या........."

इस तरहके और भी अनेक लेख हैं जिनमें मूर और गोत्र भी दिये हैं। इससे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि पौरपट्ट या पौरपाट‡ परवारोंका ही पर्यायवाची है।

लगभग इसी समयका एक और लेख प्रानपुरा (चँदेरी) षोडशकारण यंत्र पर खुदा हुआ देखिये—

सं० १६८२ मार्गसिर वदि रवौ भ० ललितकीर्तिपट्टे भ० श्री धर्मकीर्ति गुरुपदेशात् परवार धनामूर सा० हठीले भार्या दमा (या) पुत्र दयाल भार्या केशरि भोजे गरीबे भालदास भार्या सुमा......"

यह यन्त्र भी उन्हीं भट्टारक धर्मकीर्तिके उपदेशसे स्थापित हुआ है जिन्होंने थूबोनकी पूर्वोक्त प्रतिमाको प्रतिष्ठित कराया था। पर उसमें तो 'पौरपट्ट' खुदा है और इसमें 'परवार'। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि पौरपट्ट और परवार एक ही हैं और यह लेख लिखनेवालेकी इच्छा पर था कि वह चाहे पौरपट्ट या पौरपाट लिखे और चाहे परवार। अर्थात् परवार शब्द ही संस्कृत लेखोंमें 'पौरपट्ट' बन जाता था।

परवार और पोरवाड़

अब हमें यह देखना चाहिये कि इस 'पौरपाट' या 'पौरवाट' के सम्बन्धमें अन्यत्र भी कुछ जानकारी मिलती है या नहीं। यह सोचते ही हमारा ध्यान सबसे पहले नाम साम्यके कारण वैश्योंकी एक और प्रसिद्ध जाति पोरवाड़की ओर जाता है, जिसकी आबादी दक्षिण मारवाड़, सिरोही राज्य और गुजरातमें काफी तादादमें है। कुछ लेखों और ग्रंथोंमें इसे भी परवार जातिके समान पौरवाट या पौरपाट कहा गया है

* साहु अधारके ही वंशका सं०१७०६ का एक लेख ललितपुरके क्षेत्रपालके दक्षिण तरफ पार्श्वनाथकी खड्गासनस्थ मूर्तिपर खुदा है। उसमें भट्टारकोंकी परम्परा भी यही दी है पर मूर और गोत्र नहीं है। सिर्फ 'पौरपट्ट अष्टशाखान्वये' लिखा है।

‡ 'वाट' या 'वाटक' और 'पाट' या 'पाटक' शब्द भौगोलिक नामोंके साथ विभागके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। 'वाट' से ही 'वार' हो जाता है। इसके लिये देखो स्व० रा० ब० हीरालाल कृत इन्सक्रिप्शन्स आफ सी० पी एण्ड बरार, पृ० २४ और ८७

जैसे—

श्रीमाली उसपालाश्च पौरवाटाश्च नागराः।
दिक्पालाः गुर्जराः मोढाः ये वायुवटवासिनः॥

वायुपुराण *

इसमें वायुवट अर्थात् बायड (पाटणके समीप) में रहने वाली वैश्य-जातियोंके नाम बतलाए हैं-- श्रीमाली, उसपाल (ओसवाल), पौरवाड (पोरवाड़), नागर दिक्पाल (डीसावाल या दीसावाल), गुर्जर और मोढ़।

यह बात विद्वानोंने मान ली है कि गुजरातकी 'पौरवाट' जाति पोरवाढ़ ही है, वहांके पोरवाड़ भी अपनेको 'पोरपाट' या 'पौरवाट' मानते हैं।

ऐसी दशामें यदि यह अनुमान किया जाय कि पोरवाड़ और परवार मूलमें एक ही थे तो वह अत्युक्त न होगा। और यह सिद्ध हो जाने पर कि 'पोरवाड़' और 'परवार' एक ही हैं, 'पोरवाड़ों' का इतिहास एक तरह से परवारों का ही इतिहास हो जाता है और पोरवाड़ोंकी उत्पत्ति जहाँसे हुई है वहांसे ही परवारोंकी उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है। अब हम यह देखेंगे कि विद्वानोंका पोरवाड़ोंकी उत्पत्तिके विषयमें क्या कहना है।

परवारों और पोरवाड़ोंका मूल स्थान

पोरवाड़ोंका पुराना नाम 'पौरपाट' 'पौरवाट' और प्राग्वाट मिलता है। इस सम्बन्धमें सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा अपने 'राजपूतानेका इतिहास' की पहिली जिल्दमें लिखते हैं--

"करनबेल (जबलपुरके निकट) के एक शिला-लेखमें प्रसंगवशात् मेवाड़के गुहिलवंशी राजा हंसपाल, वैरिसिंह और विजयसिंहका वर्णन आया है जिसमें उनको 'प्राग्वाट' का राजा कहा है। अतएव 'प्राग्वाट' मेवाड़का ही दूसरा नाम होना चाहिए। संस्कृत-शिला-लेखों तथा पुस्तकोंमें 'पोरवाड़' महाजनोंके लिए 'प्राग्वाट' नामक प्रयोग मिलता है और वे लोग अपना निकास मेवाड़के 'पुर' नामक कस्बेसे बतलाते हैं जिससे सम्भव है कि प्राग्वाट देशके नाम पर वे अपने-को प्राग्वाट वंशी कहते रहे हों।"

हम विभिन्न प्रतिमा-लेखोंसे ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि 'परवार' शब्दमें जो 'वार' प्रत्यय है वह 'वाट' या 'पाट' शब्दसे बना है जिसका प्रचलित अर्थ होता है 'रहनेवाले'। इस तरह 'पौरवाट' शब्दका अर्थ 'पौरके रहनेवाले' होता है। मेरे ख्यालसे इसी पुर नामसे 'पौर' बन गया है और परवार और पोरवाड़ लोग मूल-में इसी 'पुर' के रहनेवाले थे। 'पौरपाट' का अर्थ 'पुरकी तरफके' भी लिया जा सकता है। 'पुर' गाँव जिसका कि ऊपर ज़िक्र है, अब भी मेवाड़में भीलवाड़े के पास एक क़स्बा है जो किसी समय बड़ा नगर था।

कभी कभी शब्दोंके दुहरे रूप भी बना लिये जाते हैं जैसे 'नीति' शब्दसे 'नैतिकता'। 'नीति' से 'नैतिक' बना और फिर उसमें भी 'ता' जोड़कर 'नैतिकता' बनाया गया यद्यपि 'नीति' और 'नैतिकता' के अर्थ एक ही हैं। इसी तरह मालूम होता है 'पुर' से भी 'पौर' बनाकर उसमें 'वाट' या 'पाट' लगा लिया गया जबकि 'पुर' के आगे 'वाट' या 'पाट' लगा देनेसे भी काम चल सकता था।

पर यदि 'पुर' का पौर न कर सीधा ही उसमें 'वाट' या 'पाट' प्रत्यय जोड़ दें तो 'पुरवाट' 'पुरवाड़'

*यह उद्धरण श्री मणिलाल बकोरभाई व्यास लिखित श्रीमाळीओंना 'ज्ञातिभेद' नामक पुस्तक परसे लिया गया है।

या 'पुरवार' शब्द बनता है जो 'परवार' शब्दके अधिक निकट है। संभव है 'परवार' लोग अपने 'पोरवाड़' कहलानेवाले भाइयोंसे पहले ही मेवाड़ छोड़ चुके हों पर बादमें बहुत दिनों तक सम्बन्ध बना रहा हो और तब जिस तरह लेखोंमें पोरवाड़ 'पौरपाट' लिखे जाते रहे हों उसी तरह इन्हें भी 'पौरपाट' लिखा जाता रहा हो। पर बोलचालमें 'पुरवार' या 'परवार' ही बने रहे हों।

इसके सिवाय एक संभावना और भी है। वह यह कि गुजराती और राजस्थानी भाषाओंमें शब्दके शुरू और बीचका 'उ' कार 'ओ' कारमें बदल जाता है। अक्सर लोग 'बहुत' का उच्चारण 'बहोत' 'लुहार' का 'लोहार' 'सुपारी' का 'सोपारी' 'मुहर' का 'मोहर' 'गुड़' को 'गोड़' 'पुर' का 'पोर' करते हैं और लिखते भी हैं। इस तरह सहजमें ही उस तरफके लोग 'पुरवार' या 'पुरवाट' को 'पोरवार' 'पोरवाट' या 'पोरवाड़' उच्चारण करने लगे हों और एक ही जाति इस तरह दो बन गई हों। कुछ भी हो पर यह बात निश्चित् है कि 'पौरपाट' शब्द जब बना तब वह 'पोरवाड़' का ही संस्कृत रूप माना गया।

'वैश्यवंशविभूषण' नामक पुस्तकमें जो बहुत पहले एंग्लो ओरियण्टल प्रेस लखनऊसे छपी थी परवारों का नाम 'पुरवार' छपा है। इससे मालूम होता है कि परवारोंके लिए 'पुरवार' शब्द भी व्यवहृत होता था।

परवार जातिका मूल राजस्थानमें है, यह बात सुननेमें कुछ लोगोंको भले ही विचित्र मालूम हो, पर जातियोंके इतिहासका प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि वैश्योंकी क़रीब क़रीब सभी जातियाँ राजस्थानसे ही निकली हैं। उदाहरणार्थ बघेरवालोंका मूलस्थान 'बघेरा' साँभरके आसपास था *। पर बघेरवाल आज कल बरारमें ही अधिक हैं। पल्लीवालोंका मूलस्थान 'पाली' मारवाड़में है जो अब यू० पी० के अनेक जिलोंमें फैले हुए हैं। इसी तरह श्रीमाल, ओसवाल, मेड़वाल, चित्तौड़ा आदि जातियाँ हैं जिनके मूलस्थान राजस्थान में निश्चित हैं+। ऐसी दशामें परवारोंका भी मूलस्थान मेवाड़में होना संभव है। आज भी अपने देशको छोड़कर दुनियाँभरमें व्यापार निमित्त जानेकी जितनी

---

* पं० आशाधरजी बघेरवाल थे। वे मांडलगढ़में पैदा हुए और शहाबुद्दीन गौरीके आक्रमणोंसे त्रस्त होकर बहुत लोगोंके साथ मालवेमें आ बसे थे। देखो मेरी विद्वद्रत्नमालाका पृ० ६२-६३। पूर्वकालमें इसी तरहके कारणोंसे जातियाँ बन जाती थीं।

+ इनमें 'नेमा' और 'गोलालारे' जातिको भी शामिल किया जासकता है। मालवा और सी० पी० में 'नेमा' वैष्णव और जैन दोनों हैं। बरारमें ये 'नेवा' कहलाते हैं और श्वेताम्बर जैन डायरेक्टरीके अनुसार १६०८ में गुजरातमें इनकी सँख्या ११०२ थी। सिर्फ़ बागड़में इनके कई हज़ार घर हैं। सूरत जिलेमें और उसके आसपास एक 'गोलाराणे' नामकी जाति आबाद है जिसके बारेमें मेरा अनुमान है कि यही बुन्देलखण्डमें आकर 'गोलालारे' कहलाने लगी है। ये लोग अपनेको क्षत्रिय बताते हैं और वैश्य हैं। स्व० मुनि बुद्धिसागर सम्पादित 'जैन-धातु-प्रतिमा-लेख-संग्रह' नामक पुस्तक के पहले भागके २० नं० के एक लेखमें एक प्रतिमाके स्थापकको 'गोलावास्तव्य' लिखा है जिससे मालूम होता है कि 'गोला' नामका कोई नगर था जिसमेंसे गोलापूरब, गोलालारे और गोलसिंघाड़े ये तीनों ही समय समय पर निकले होंगे।

प्रवृत्ति राजस्थानी और मारवाड़ी लोगोंमें है उतनी और किसीमें नहीं।

पोरवाड़ोंकी उत्पत्तिके संबंधकी कथाएँ और गलत धारणाएँ

प्राग्वाट और पौरवाड़ोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनेक कल्पित कथायें 'श्रीमालीपुराण' और 'विमल-प्रबन्ध' आदि ग्रन्थोंमें मिलती हैं। परन्तु वे सब शब्दों-के अर्थ परसे ही गढ़ी गई जान पड़ती हैं। जब लोग किसी जातिके मूल इतिहासको भूल जाते हैं, तब कुछ न कुछ कहनेके लिए संभव असंभव कथायें रच डालते हैं। उन्हें क्या पता कि मेवाड़का एक नाम 'प्राग्वाट' भी था और वहाँ कोई 'पुर' नामक नगर था। उदा-हरणके लिये एक कथा देखिये—

जब लक्ष्मीजीको श्रीमाल नगरकी समृद्धिकी चिंता हुई, तब विष्णु भगवानने उनके मनकी बात जानकर ६० हज़ार वणिकोंको श्रीमाल नगरमें दाखिल किया। तब उनमेंसे जो पूर्व दिशामें बसे, वे प्राग्वाट कहलाये। 'प्राग्' का अर्थ पूर्व होता है और वाटका दिशा, स्थान आदि। बस शब्दार्थमेंसे ही कथा बन गई।

गरज यह कि इस तरहकी कथाओं पर विश्वास नहीं करना चाहिए। प्रायः सभी जातियोंके सम्बन्धमें इस तरहकी अद्भुत अद्भुत कथायें प्रचलित हैं ‡।

'महाजन-वंश मुक्तावली' के लेखक यति रामलाल जी ने और 'जैन-सम्प्रदाय-शिक्षा' के लेखक यति श्रीपालजीने पोरवाड़ोंका मूल-स्थान 'पारेवा' या 'पारा' नगर बतलाया है मगर वह कहाँ पर है इसका कुछ पता नहीं दिया। संभव यही है कि 'पुर' सबका ही बिगड़कर 'पारा' या 'पारेवा' बन गया हो।

मेवाड़से बाहर फैलाव

जातियोंके एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेके अनेक कारण होते हैं। उनमें मुख्य है आर्थिक कारण।

अक्सर प्राचीन समृद्ध नगर राजनीतिक उथलपु-थलोंसे, आक्रमणकारियोंके उपद्रवोंसे और प्रकृति-प्रकोप से उजड़ जाते हैं। जहाँ जीविकाके साधन नहीं रहते तब जातियाँ वहाँसे उठ कर दूसरे समृद्धिशाली नगरों या प्रान्तोंमें चली जाती है। वर्तमान स्थानकी अपेक्षा दूसरे स्थानोंमें लाभकी अधिक आशासे भी गमन होता है। अक्सर प्रतापी राजा नये नगर बसाते हैं और उनमें पुरुषार्थियोंको बुलाकर बसाते हैं। ऐसे ही किसी कारण से पोड़वाड़ या परवार जातिने मेवाड़से बाहर क़दम रक्खा होगा। जहाँ जहाँ जाकर ये बसे वहाँ वहाँ इन्होंने अपना परिचय प्राग्वाट या पोरवाड़ विशेषणके साथ दिया और तभीसे ये इस नामसे प्रसिद्ध हुए।

पद्मावती—पुरवार परवारोंकी एक शाखा

ऐसा जान पड़ता है कि प्राग्वाटों या पोरवाड़ोंका एक दल पद्मावती नगरीमें भी आकर बसा था। पीछे जब यह महानगरी ऊजड़ हो गई, और इस कारण उसे वहाँसे अन्यत्र जाना पड़ा तब उस दलका नाम पद्मा-वती पोरवाड़' या 'पद्मावती पुरवार' हुआ।

पद्मावती किसी समय बड़ी ही समृद्धिशाली नगरी थी। खजुराहाके एक शिलालेखमें ‡ जो ईस्वी सन्

‡ चोलुक्य या सोलंकी राज्यवंशके विषयमें भी ऐसी ही एक कथा शब्द परसे गढ़ी गई है। 'चुलुक' शब्दसे चौलुक्य बन सकता है और 'चुलुकका अर्थ होता है, चुल्लू। ब्रह्माजी ने या किसी देवताने चुल्लू भर पानी डालकर जिला दिया बस उसीसे चौलुक्य वंश उत्पन्न हो गया।

‡ देखो इण्डियन एण्टिक्वेरी पहलाखंड पृ०१४१

१००१ का है इसकी समृद्धिकी अत्यन्त प्रशंसा की गई है। उसे ऊँचे गगनचुंबी भवनोंसे सुशोभित अनुपम नगर बतलाया है, जिसके राज मार्गोंमें बड़े बड़े घोड़े दौड़ते हैं, और जिसकी दीवारें चमकती हुई, स्वच्छ, शुभ्र और आकाशसे बातें करती हैं।

ग्वालियर राज्यका 'पदम पवाँया' नामक स्थान प्राचीन पद्मावतीके स्थान पर बसा हुआ है † यह बहुत समय तक नाग-राजाओंकी राजधानी रही है।

'पद्मावती पोरवाड़' परवारोंकी ही एक शाखा है, इस बातका प्रमाण पं० बखतरामजी कृत 'बुद्धिविलास' नामक ग्रंथके 'श्रावकोत्पत्ति प्रकरण' में भी मिलता है *

सात खाँप परवार कहावैं,
तिनके तुमकौं नाम सुनावैं।
अठसक्खा फुनि हैं चौसक्खा,
सेंह सक्खा फुनि हैं दो सक्खा।
सोरठिया अरु गाँगज जानौ,
पदमावतिया सप्तम जानौ।

अर्थात् परवार सात खाँपके हैं—१ अठसखा, २ चौसखा ३ छहसखा, ४ दो सखा, ५ सोरठिया, ६ गांगज ७ और पदमावतिया। इनमें से पहले चार तो परवारोंके प्रसिद्ध भेद हैं ही जिनमें से अब केवल अठसखा और चौसखा रह गये हैं और पदमावतियासे मतलब पद्मावती पोरवाड़से है जो इस समय एक जुदी जाति है +। परवारोंसे दूर पड़ जानेके कारण ही कालान्तरमें इसका परवार सम्बन्ध टूट गया होगा।

पद्मावती पोरवाड़ोंमें जिस तरह 'पाँड़े' हुआ करते हैं उसी तरह परवारोंमें भी हैं। पहिले शायद इनसे वही काम लिया जाता था, जो अन्य जैनेतर जातियोंमें ब्राह्मणोंसे लिया जाता है। ※

परवारोंके मूल-गोत्रोंमें भी 'बाझल्ल' गोत्रका एक मूर 'पद्मावती' नामका है†। जान पड़ता है इस मूर के लोग ही दूर चले जाने पर एक स्वतंत्र जातिके रूप में परिणत होगए होंगे। जो थोड़े लोग परवारोंके साथ रह गये, वे पद्मावती मूर वाले कहलाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा है यह नाम पद्मावती नगरीके नामसे ही पड़ा होगा।

जातियोंके इतिहासमें ऐसी बहुत-सी जातियाँ है जो पहले एक बड़ी जातिके अन्तर्भूत गोत्र रूपमें थीं और फिर पीछे एक अलग जाति बन गई।

---

† झांसी-आगरा लाइन पर देवरा स्टेशनसे कुछ दूर पर ग्वालियर राज्यमें।

* इसे मेरे मित्र तात्या नेमिनाथ पांगलने बहुत बरस पहिले बारसी टाउनके जैन मन्दिरसे लेकर भेजा था। उस समय मैंने एक नोट भी जैनहितैषी (भाग ६ अंक ११-१२) में प्रकाशित किया था। इस समय यह ग्रन्थ मेरे सन्मुख नहीं है। इसलिए यह नहीं कह सकता कि ग्रन्थ किस समयका बना हुआ है।

+ दि० जैन डिरेक्टरीके अनुसार पद्मावती पोरवाड़ोंकी जन संख्या ११९६१ थी। इनका एक जत्था सौ दो सौ वर्ष पहले शायद बघेरवालोंके ही साथ बरारमें जा बसा था जो भाषा वेष आदिमें बिलकुल दक्षिणी हो गया है। इससे उत्तरभारत वालोंका इनके साथ विवाह-सम्बन्ध टूट गया था; जो अब जारी किया गया है।

※ हमारे गांवमें एक पांड़े परिवार है, अमरावती में भी एक पांड़े हैं। अन्यत्र भी इनके घर होंगे।

† एक सूचीमें वासल्ल गोत्रका मूर भी पद्मावती लिखा है। कोइल्ल गोत्रके एक मूरका नाम 'पद्मावती डिम' भी है।

सोरठिया परवार

'सोरठिया पोरवाड़' नामकी जाति गुजरातमें है। सोरठमें बसनेके कारण इसका यह नाम पड़ा है। इस जातिमें जैन और वैष्णव दोनों धर्मोंके अनुयायी हैं। इन्हें परवारोंकी एक खाँप बतलाया है और इस तरफ ये पोरवाड़ ही माने जाते हैं, इससे भी परवार और पोरवाड़ पर्यायवाची मालूम होते हैं।

जाँगड़ा परवार

अब शेष रहे 'गाँगज' सो मेरा ख्याल है कि लिखने वालेकी भूलसे यह नाम अशुद्ध लिखा गया है। संभवतः यह 'जाँगड़' होगा जो 'जाँगड़ा पोरवाड़ों' के लिए प्रयुक्त हुआ है।

जाँगड़ा पोरवाड़ वैष्णव और जैन दोनों हैं। चम्बल नदीकी छायामें रामपुरा, मन्दसोर मालवा तथा होल्कर राज्यमें वैष्णव जाँगड़ा और बड़वाहा नीमाड़के आसपास तथा कुछ बरारमें जैन जाँगड़ा रहते हैं जो सिर्फ दिगम्बर सम्प्रदायके ही अनुयायी हैं।

जोधपुर राज्यका उत्तरी भाग जिसमें नागौर आदि परगने हैं 'जांगल देश' कहलाता था। शायद इसी कारणसे ये जाँगड़ा कहलाये होंगे और मेवाड़से निकल कर पहले उधर बसे होंगे।

इनका रहन-सहन और आचार-विचार परवार जातिसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। दूसरोंके हाथसे खाने-पीनेका इन्हें भी बड़ा परहेज है। रंगरूपमें भी ये परवारोंके समान हैं।

बुन्देलखण्डी और गढ़ावाल

परवारोंका सबसे पिछला भेद बुन्देलखंडी और गढ़ावाल है जो पृथक् जातिके रूपमें परिणत न हो सका। पर इससे यह पता लगता है कि महा-कौशलमें जबलपुर, नरसिंगपुर, सिवनी आदिकी तरफ परवार दो स्थानोंसे जाकर आबाद हुए हैं। जो सीधे बुन्देलखंडसे आये वे बुन्देलखंडी और जो गढ़ा (जबलपुरके पास) से आये वे गढ़ावाले। गढ़ा पहले समृद्धिशाली नगर था। उसके उजड़ जाने पर इन्हें नीचेकी तरफ आना पड़ा होगा।

'बुन्देलखंडी' और 'गढ़ावाले' यह भेद परवारोंकी पड़ौसिन गहोई जातिमें भी है। वैश्य होनेके कारण यह जाति भी साथ साथ ही नई जगहोंमें आबाद हुई होगी। गहोइयोंमें इन दोनों दलोंमें बेटी व्यवहार तक बन्द हो गया था जो बड़े आन्दोलनके बाद अब जारी हुआ है।

परवारों और पोरवाड़ोंके बाक़ी उपभेद

परवारोंकी सात खाँपें ऊपर बतलाई जा चुकी हैं। उनमेंसे दोसखे छहसखे समाप्त होकर दो खाँपें अठसखा और चौसखा रह गई हैं। चौसखे भी अब अठसखोंमें मिल रहे हैं *। तारनपंथी समैया उपजातिका जिक्र ऊपर किया जा चुका है। इसका सम्बन्ध भी अब परवारोंसे होने लगा है और अब सिर्फ एक पन्थके रूपमें ही इसका अस्तित्व रह गया है।

---

* श्री मणिलाल बकोर भाई व्यासके पास संवत् १७०० के आस पास का लिखा हुआ एक 'पाना' है जिसमें राजौर जातिके १ बड़ी सखा, २ लहुड़ी सखा, ३ चउसखा, ४ द्विसखा और ५ राजसखा ये पाँच अन्तर्भेद बतलाये हैं। 'जैन-सम्प्रदाय-शिक्षा' के अनुसार इस जाति का उत्पत्ति-स्थान 'राजपुर' बतलाया है। क्या पूर्वकालमें परवार जातिसे इस जातिका भी कुछ सम्बन्ध था? कहीं 'पुर' का ही दूसरा नाम 'राजपुर' न हो?

हाँ परवारोंमें दस्से भी हैं जो 'विनैकया' कहलाते हैं। उनमें भी नये और पुराने ये दो भेद हैं। पुराने विनैकया वैसे ही हैं जैसे श्रीमाली, हूमड़ आदि जातियोंमें दस्सा हैं, अर्थात् उनमें विधवा-विवाह नहीं होता और पहले कभी हुआ था, इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। नये विनैकयोंसे भी इनका कोई सम्बन्ध नहीं है ‡। पुराने विनैकया कहीं २ अपनेको 'जैसवार' भी कहलाने लगे हैं, पर वास्तवमें जैसवारोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक दल ऐसा भी है जो अपनेको चौसखा परवार कहता है। जान पड़ता है कि पंचायती दंड विधानकी सख्ती और प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करनेकी बंदी ही विनैकयोंकी उत्पत्तिके लिये जिम्मेवार है। पुराने विनैकयोंके विषयमें तो हमारा ख्याल है कि किसी समय किसी हुकुम-उदूली आदिके अपराधमें ही ये अलग किये गये होंगे और फिर अल्पसंख्यक होनेके कारण लाचारीसे इन्हें अपने मूर गोत्रोंको अलग रख देना पड़ा होगा।

पोरवाड़ोंके तीन भेद हैं शुद्ध पोरवाड़, सोरठिया पोरवाड़, और कंडुल या कपोल †।

फिर इन सबमें गुजरात और राजपूतानेकी अन्य जातियोंके समान बीसा और दस्सा ये दो मुख्य भेद और हैं। प्राचीन लेखोंमें 'वृहत्शाखा' और 'लघुशाखा' नामसे इनका उल्लेख मिलता है। परन्तु दस्सा कहला कर भी इनमें विधवा-विवाहकी चाल नहीं है और पहले भी थी, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है †।

धर्मोंके कारण पड़े हुए पोरवाड़ोंके उक्त भेदोंके दो दो भेद और हैं, जैन और वैष्णव। जैनोंमें भी मूर्तिपूजक और स्थानकवासी हैं।

इनके सिवाय सूरती, खंभाती, कपड़बंजी, अहमदाबादी, मांगरोली, भावनगरी, कच्छी आदि स्थानीय भेद हो गये हैं और इससे बेटी व्यवहारमें बड़ी मुसीबतें खड़ी हो गई हैं। क्योंकि* ये सब अपने अपने स्थानीय गिरोहोंमें ही विवाह-सम्बन्ध करते हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि पोरवाड़ जाति पहले दिग-

---

‡ दिगम्बर जैन डिरेक्टरी (सन् १९१४) के अनुसार विनैकेया परवारोंकी संख्या ३६८९ और चौसखोंकी १२७७ थी।

† ततो राजप्रसादात्समीपपुरनिवासतो वणिजः प्राग्वाटनामनो बभूवुः। तेषां भेदत्रयम्। आदौ शुद्ध प्रावाटाः। द्वितीयाः सुराष्ट्रं गता। केचित्सौराष्ट्रप्राग्वाटाः। तदवशिष्टाः कंडुल महास्थान निवासिताऽपि कंडुल प्राग्वाटा बभवुः।

—'श्रीमाळीओनो ज्ञातिभेद' के १०७ वें पेजका ज्योंका त्यों उद्धरण।

† कई प्रबन्धों और पुस्तकोंमें लिखा है कि आबूके संसार प्रसिद्ध जैनमन्दिर बनवानेवाले महामात्य वस्तुपाल-तेजपालकी माता बाल-विधवा थीं। ये दोनों पुत्र उन्हें पुनर्विवाहसे प्राप्त हुए थे। इस बातको कोई जानता न था। पुत्रोंकी ओरसे एकवार तमाम वैश्य जातियोंको महाभोज दिया जा रहा था कि यह बात किसी जानकारकी तरफसे प्रकट कर दी गई। तब जो लोग भोजमें शामिल रहे वे दस्सा कहलाये और जो उठकर चले गये वे बीसा। कहा जाता है कि उसी समय तमाम जातिमें दस्सा-बीसा की ये दो दो तड़ें हो गईं।

* श्वेताम्बर जैन डिरेक्टरीके अनुसार बीसा पोरवाड़ोंकी संख्या १९०१० और दस्सा पोरवाड़ोंकी ६२८१ थी और बम्बई अहातेकी सन १९११ की सरकारी मनुष्य गणनाके अनुसार वैष्णव पोरवाड़ोंकी संख्या ७७४८ थी। सोरठिया वैष्णव इनसे अलग ११४४९ थे।

म्बर सम्प्रदायको भी मानने वाली थी। 'नेमि-निर्वाण' दिगम्बर सम्प्रदायका श्रेष्ठ काव्य है। उसके कर्ता पं० वाग्भट अहिच्छत्रपुरमें उत्पन्न हुए थे। अहिच्छत्रपुर नागौर (मारवाड) का प्राचीन नाम था। ÷ गुजरातादिमें श्वेताम्बर सम्प्रदायका प्राधान्य था, इसलिए वहाँ पोरवाड़ श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुयायी रहे और मालवा बुन्देलखंड आदिमें दिगम्बर सम्प्रदायकी प्रधानता थी इससे परवार और जाँगड़ा पोरवाड़ दिगम्बर रहे। जातियोंमें धर्म-परिवर्तन और सम्प्रदाय-परिवर्तन भी अक्सर होते रहे हैं।

परवार तथा अन्य जातियोंकी उत्पत्तिका समय

अब सवाल यह उठता है कि परवार जातिकी उत्पत्ति कब हुई? इसका निर्णय करनेके लिए यह जानना जरूरी है कि अन्य जातियाँ कब पैदा हुई? अन्य जातियोंकी उत्पत्तिका जो समय है लगभग वही समय परवार जातिकी उत्पत्तिका भी होगा। इसके लिए पहले उपलब्ध सामग्रीकी छान-बीन की जानी चाहिए।

भगवज्जिनसेनका 'आदि-पुराण' विक्रमकी दशमी शताब्दीका ग्रन्थ है उसमें वर्ण-व्यवस्थाकी खूब विस्तार से चर्चा की गई है, परन्तु वर्तमान जातियोंका वहाँ कोई जिक्र नहीं है। जैनोंका कथा साहित्य बहुत विशाल है। उसमें पौराणिक और ऐतिहासिक सैकड़ों स्त्री पुरुषोंकी कथाएँ लिखी गई हैं परन्तु उसमें भी कहीं कोई पात्र ऐसा नहीं मिलता जो इनमें से किसी जाति का हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, नामसे ही सब पात्र परिचित किये गये हैं। इससे मालूम होता है कि उक्त कथा-साहित्य जिस समय अपने मौलिक रूपमें लिखा गया था, उस समय ये जातियाँ थीं ही नहीं।

जैन साहित्यमें जातिका सबसे पहला उल्लेख

आचार्य अनन्तवीर्यने अपनी 'प्रमेयरत्न माला' हीरपनामक सज्जनके अनुरोधसे बनाई थी। इन हीरपके पिताको उन्होंने 'बदरीपाल' वंशका सूर्य कहा है †। यह कोई वैश्य जाति ही मालूम होती है। अनन्तवीर्यका समय विक्रमकी दसवीं शताब्दी है। जहाँ तक हम जानते हैं, जैन साहित्यमें जातिका यही पहला उल्लेख है। दूसरा उल्लेख महाराजा भीमदेव सोलंकीके सेनापति और आबूके आदिनाथके मन्दिरके निर्माता बिमलशाह पोरवाड़का वि० सं० १०८८ का है। इनकी वंशावलीमें इनके पहलेकी भी तीन पीढ़ियोंका उल्लेख है। यदि प्रत्येक पीढ़ीके लिये २०–२५ वर्ष रख लिये जाँय तो यह समय वि० सं० १०२० के लगभग तक पहुँचेगा।

जैन प्रतिमा-लेखोंमें प्रायः प्रतिमा स्थापित करनेवालोंका परिचय रहता है। दिगम्बर सम्प्रदायकी प्रतिमाओंके तो अब तक बहुत ही कम लेख प्रकाशित हुए हैं *।

÷ अहिच्छत्रपुरोत्पन्नः प्राग्वाटकुलशालिनः।
छाहडस्य सुतश्चक्रे प्रबन्धं वाग्भटः कविः॥

श्री ओझाजीके अनुसार अहिच्छत्रपुर नागौरका प्राचीन नाम था। बरेलीके जिलेका रामनगर भी अहिच्छत्र कहलाता है, जो प्राचीन तीर्थ है। परंतु वाग्भट नागौरमें ही उत्पन्न हुए होंगे, ऐसा जान पड़ता है।

† 'बदरीपालवंशालीव्योमद्युमणिरूर्जितः'।

वर्तमान जातियोंकी सूचीमें हमें इस जातिका नाम नहीं मिला। या तो यह लुप्त हो गई है या कुछ नामान्तर हो गया है।

* जहाँ तक हम जानते हैं बाबू कामताप्रसादजी का एक छोटासा संग्रह और प्रो० हीरालालजीका जैन-

श्वेताम्बर सम्प्रदायके विद्वानोंने अवश्य ही इस ओर बहुत ध्यान दिया है। उनके प्रकाशित किये हुए कई हजार लेखोंको मैंने देखा है परन्तु उनमें भी कोई लेख ग्यारहवीं शताब्दीके पहिलेका ऐसा नहीं मिला जिसमें किसी जातिका उल्लेख हो।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान जातियाँ नौवीं-दसवीं शताब्दीमें पैदा हुई होनी चाहिएँ +। और यही समय परवार जातिकी उत्पत्तिका भी होगा।

जातियोंकी उत्पत्तिके पहलेकी सामाजिक अवस्था—गोष्ठियाँ

ग्यारहवीं सदीके कई लेख ऐसे मिले हैं जिनमें मन्दिरों या प्रतिमाओंके स्थापित करनेवालोंको या तो केवल 'श्रावक' विशेषण दिया गया है या गोष्ठिक। इसीसे ऐसा मालूम होता है कि जातियाँ निर्माण होनेके पहले गोष्ठियाँ थीं जिन्हें हम संघ, या जत्थे कह सकते है।

सिरोही राज्यके कायन्द्रागाँवके श्वेताम्बर जैन मन्दिरकी एक देवकुलिका पर वि० सं० १०९१ का लेख है, जिसमें उसके निर्माताको **'भिन्नमालनिर्यातः प्राग्वाट वणिजांवरः'** अर्थात् भिन्नमालसे निकाला हुआ प्राग्वाट वणिकोंमें श्रेष्ठ कहा है*। एक और शिलालेख दुबकुंड (ग्वालियर) गांवमें सं० ११४५ का है† जिसमें वहाँके दिगम्बर जैन मन्दिरके निर्माताको **'जायसपूर्विनिर्गतवणिग्वंश'** का सूर्य कहा है। इसका अर्थ होता है पूर्वमें जायससे निकले हुए वैश्य वंशका प्रसिद्ध पुरुष। यह वह समय मालूम होता है जब जातियोंको नाम प्राप्त हो रहा था अर्थात् उनके संघों या जत्थोंको उनके निकासके स्थानके नामसे अभिहित किया जाने लगा था।

दक्षिण महाराष्ट्र और उससे और नीचेके भागके धर्मानुयायियोंमें तो उत्तर भारतके समान जाति-संस्थाका विस्तार शायद हुआ ही नहीं। जैन शिलालेख संग्रहके शक सं० १०४२ के नं० ४६ (१२६) में चामुंड नामक राजमान्यवणिक् की पत्नी देवमतीके समाधिमरणका उल्लेख है। उसमें किसी जातिका निर्देश नहीं। शक १०५९ के लेख नम्बर ६८ (१५९) में चट्टिकव्वे नामक स्त्रीने अपने पति मल्लिसेट्टिकी निषद्या बनवाई। इसी तरह नं० ७८ (१८२), ८१ (१८६), ६२ (२४२), ३२६ (१३७) के भी हैं जिनमें सबको सेट्टि (श्रेष्ठि) या व्यापारी ही लिखा है। इन से यह स्पष्ट है कि निदान विक्रमकी १३वीं शताब्दी तक कर्नाटकमें वैश्योंकी विविध जातियाँ नहीं थीं।

असगकविका महावीर चरित सं० ९१० (शायद शक संवत्) चोल देशकी विरला नगरीमें बना है। असगने अपने पिता पटुमतिको केवल श्रावक लिखा है। अर्थात् चोल देशमें भी विक्रमकी ग्यारहवीं सदी तक वैश्योंकी वर्तमान जातियाँ नहीं थीं।

लेखसंग्रह ये दो ही संग्रह प्रकाशित हुए हैं। पहलेमें मैनपुरी, एटा आदिके मन्दिरोंकी प्रतिमाओंके लेख हैं और पिछलेमें श्रवणबेलगोला और उसके समीपके ही लेख हैं।

+ स्वर्गीय इतिहासज्ञ पं० चिन्तामणि विनायक वैद्यने अपने 'मध्ययुगीन भारत'में लिखा है कि विक्रमकी आठवीं शताब्दी तक ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके समान वैश्योंकी सारे भारतमें एक ही जाति थी।

*** मुनि श्री जिनविजयजी सम्पादित 'प्राचीन जैन लेखसंग्रह' के द्वि० भागका ४२७ वें नंबरका लेख।**

† एपिग्राफिया इंडिका जिल्द २ पृ० २३७-४०।

स्थानों परसे जातियाँ बन जाने पर जब उनका फैलाव हुआ और वे दूर दूर तक फैल गईं, तब यह भी लिखा जाने लगा कि अमुक जातिका अमुक स्थान में उत्पन्न हुआ या रहने वाला। जिस तरह नेमि-निर्वाणके कर्त्ता वाग्भटने अपनेको **'अहिच्छत्रपुरोत्पन्नः प्राग्वाटकुलशालिनः'** लिखा है अथवा गिरनारपर्वतके नेमिनाथ मन्दिरकी सं० १२८८ की प्रशस्तिमें वस्तुपाल-तेजपालको **'अणहिल्लपुरवास्तव्य-प्राग्वाटान्वयप्रसूत'** लिखा है ‡ अर्थात् अणहिलपुरके निवासी प्राग्वाट जातिके। इसके बाद और आगे चलकर जातियोंके गोत्रादि भी लिखे जाने लगे।

जातियोंकी उत्पत्तिके समयके बारेमें अन्य मतोंका खण्डन

चौदहवीं सदीके भट्टारक इन्द्रनन्दिने अपने नीति-सारमें लिखा है कि विक्रमादित्य और भद्रबाहुके स्वर्ग-गत होने पर जब प्रजा स्वच्छन्दचारिणी होगई तब जातिसंकरतासे डरनेवाले महर्द्धिकोंने सबके उपकारके लिए ग्रामादिके नामसे जातियाँ बनाईं * परन्तु इसके लिए कोई विश्वासयोग्य प्रमाण नहीं है। विक्रम या भद्रबाहुका समय भी एक नहीं है। इसके सिवाय जातियोंका संकर न हो जाय अर्थात् मिश्रण न होजाय, इसका अर्थ भी कुछ समझमें नहीं आता है। जाति संकरताका अर्थ यदि वर्णसंकरता है तब तो प्राचीन जैनधर्म इसका विरोधी नहीं था, क्योंकि भगवज्जिनसेन अपने आदिपुराणमें अनुलोम-विवाहोंका स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन करते हैं * और अनुलोम-विवाहोंसे अर्थात् ऊपरके वर्ण वालोंका नीचेकी वर्णकी कन्याके साथ सम्बन्ध होनेसे वर्णसंकरता होती ही है और यदि 'जाति संकरता' में जातिका अर्थ वर्तमान जातियाँ हैं, तो वे तो इन्द्रनन्दिके कथनानुसार उस समय थीं ही नहीं। आदिपुराणके मतसे तो वर्णसंकरताका अर्थ वृत्ति या पेशेको बदलना है, अर्थात् किसी वर्णके आदमीका अपना पेशा छोड़ कर दूसरे वर्णका पेशा करने लगना है और उस समय इस संकरताको रोकना राजाका धर्म था +। ग़रज़ यह कि जातियोंके स्थापित करने और वर्ण संकरताको मिटानेमें कोई कारण-कार्य-सम्बन्ध समझमें नहीं आता है।

एक और प्रमाण जातियोंकी प्राचीनताके विषयमें यह दिया जाता है कि चूंकि आचार्य गुप्तिगुप्त परवार थे, कुन्दकुन्दस्वामी पल्लीवाल थे, उनके गुरु जिनचंद्र चौसखे परवार, वज्रनन्दि गोलापूर्व और लोहाचार्य लमेचू थे, इसलिए सिद्ध होता है कि कुन्दकुंदाचार्यसे भी पहले जातियाँ थीं। परन्तु जिस पट्टावलीके आधार से यह बात कही जाती है उसकी प्रामाणिकतामें घोर सन्देह है और वह भी चौदहवीं सदीसे पहलेकी नहीं है। उसके कर्ताको शायद इसके सिवाय कोई धुन ही नहीं रही है, कि बड़े बड़े आचार्योंकी खास खास

---

‡ एपिग्राफिआ इंडिका जिल्द २ पृ० २३७-४०।

* स्वर्गे गते विक्रमार्के भद्रबाहौ च योगिनि।
प्रजाः स्वच्छन्दचारिण्यो बभूवुः पापमोहिताः॥
तदा सर्वोपकाराय जाति संकरभीरुभिः।
महर्द्धिकैः परं चक्रे ग्रामाद्यभिधया कुलम्॥—नीतिसार।

* आदिपुराण पर्व १६ श्लोक २४७।

+ स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत।
स पार्थिवैर्नियंतव्यो वर्णसंकीर्णिरन्यथा॥
—पर्व १६ श्लोक २४८।

अर्थात् जुदा जुदा वर्णोंकी जो वृत्ति (पेशा) नियत की गई है, उसे छोड़कर दूसरे वर्णकी वृत्ति करने लगनेको राजा लोग रोकें, अन्यथा वर्णसंकरता हो जायगी।

जातियोंमें खतौनी करदी जाय। उस बेचारेने यह सोचनेकी भी आवश्यकता नहीं समझी कि जिस सुदूर कर्नाटकमें कुंदकुंदादि हुए हैं वहाँ कभी पल्लीवाल, चौसखों और गोला पूर्वोंकी छाया भी न पड़ी होगी। इसके सिवाय और किसी प्राचीन गुरुपरम्परामें भी गुरुओंकी इन जातियोंका उल्लेख नहीं।

जैन जातियोंकी उत्पत्तिकी सारी दन्त कथाओंमें प्रायः एक ही स्वर सुनाई देता है और वह यह कि अमुक जैनाचार्यने अमुक नगरके तमाम लोगोंको जैन धर्मकी दीक्षा दे दी और तब उस नगरके नामसे अमुक जातिका नाम करण होगया और उक्त सब आचार्य पहली शताब्दी या उसके आस पासके बतलाये जाते हैं परन्तु ये सब दन्तकथायें ही हैं, और जब तक कोई प्राचीन प्रमाण न मिले तब तक इनपर विश्वास नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि कभी जत्थेके जत्थे भी जैनी बने होंगे, परन्तु यह समझमें नहीं आता कि उनमें सभी जातियोंके ऊँच नीच लोग होंगे और वे सब के सब एक ग्रामके नामकी किसी जातिमें कैसे परिणत हो गये होंगे। क्योंकि ऐसी प्रायः सभी जातियोंमें जो स्थानोंके नामसे बनी हैं जैनी-अजैनी दोनों ही धर्मोंके लोग अब भी मिलते हैं। जैनी अजैनी भी बनते रहे हैं और अजैनी जैनी।

गोत्र

परवार जातिके बारह गोत्र हैं. परवारोंके इतिहासके लेखकके लिये जरूरी है कि गोत्रोंके बारेमें भी वह लिखे। गोत्रोंके विषयमें कुछ लिखनेके पहले हमें यह जानना चाहिये कि गोत्र चीज क्या है? वैयाकरण पाणिनिने गोत्रका लक्षण किया है **'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्'**। अर्थात् पौत्रसे शुरू करके संतति या वंशजोंको गोत्र कहते हैं। वेद कालसे लेकर अब तक ब्राह्मणोंमें, चाहे वे किसी भी प्राँतके हों, यह गोत्र-परम्परा अखण्डरूपसे चली आ रही है। महाभारतके अनुसार मूल गोत्र चार हैं—अंगिरा, कश्यप, वशिष्ठ और भृगु *। इन्हींसे तमाम कुलों और लोगोंकी उत्पत्ति हुई है और आगे चलकर इनकी संख्या हजारों पर पहुँच गई है ×। ज्यों ज्यों आबादी बढ़ती गई त्यों त्यों कुलों और परिवारोंकी संख्या बढ़ने लगी। किसी कुलमें यदि कोई विशिष्ट पुरुष हुआ, तो उसके नामसे एक अलग कुल या गोत्र प्रख्यात हो गया। उसके बाद आगे की पीढ़ियोंमें और कोई हो गया, तो उसका भी जुदा गोत्र प्रसिद्ध होगया। इसी तरह यह संख्या बढ़ी है।

गोत्रोंके बारेमें वैश्योंकी अपनी विशेषता

क्षत्रियोंकी गोत्र-परम्पराके विषयमें इतिहासज्ञोंका कथन है कि वह बीचमें शायद बौद्धकालमें विछिन्न हो गई और उसके बाद जब वर्णव्यवस्था फिर कायम हुई, तो क्षत्रियोंने अपने पुरोहितोंके गोत्र धारण कर लिये। अर्थात् पुरोहितका जो गोत्र था वही उनका हो गया। विज्ञानेश्वरने मिताक्षरामें यही कहा है कि क्षत्रियोंके अपने गोत्र-प्रवर नहीं है, पुरोहितोंके जो हैं वही उनके हैं। परन्तु बहुतसे विद्वानोंका इस विषयमें मतभेद है। वैश्योंके विषयमें भी यही कहा जाता है कि उनकी गोत्र-परम्परा नष्ट हो चुकी थी और पुरोहितोंके गोत्र उन्होंने भी ग्रहण कर लिये होंगे। परन्तु अग्रवाल आदि जातियोंके गोत्र देखनेसे यह बात गलत मालूम होती है। उनके गोत्र पुरोहितोंसे जुदे हैं।

बहुत-सी वैश्य जातियाँ ऐसी भी हैं जिनमें गोत्र

---

* शांतिपर्व अध्याय २९६।

× गोत्राणां सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
—प्रवरमंजरी।

हैं ही नहीं। ओसवाल आदि कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनके गोत्र ग्रामों या पेशों आदिके नामसे पड़े हैं और बहुतोंके ऐसे अद्भुत हैं कि उनके विषयमें कुछ कल्पना ही नहीं हो सकती। उनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें तरह तरह की कथायें भी गढ़ ली गई हैं।

परवारोंके गोत्र और उनका अन्य जातियोंके गोत्रोंसे मिलान

हमारा अनुमान है कि परवारोंके गोत्र गोत्रकृत् या वंशकृत् पुरुषोंके ही नामसे प्रारम्भ हुए होंगे और उनकी परम्परा बहुत पुरानी होनी चाहिए।

परवारोंके बारह गोत या गोत्र हैं। इनमेंसे कुछ गोत्र गहोइयों और अग्रवाल आदि जातियों जैसे हैं। इसका कारण शायद यह हो कि मूलमें ये एक ही रहीं हों और आगे चलकर अलग हो गई हों। जो गोत्र मिलते नहीं है, भिन्न हैं, वे शायद अलग होनेके बादके हैं।

आगे हम परवार, गहोई और अग्रवाल जातिके गोत्र दे रहे हैं—

परवार	गहोई	अग्रवाल
१ गोहिल्ल	गांगल	गोभिल
२ गोइल्ल	गोइल, गोयल या गोल	गोयल
३ वाछल्ल	वाछिल	वत्सिल
४ कासिल्ल	काछिल	कासिल
५ वासिल्ल	वासिल	
६ भारिल्ल	भारल या भाल	
७ कोछल्ल	कोछिल	
८ वाभल्ल	बादल	
९ कोइल्ल	कोइल, कोहिल	
१० खोइल्ल	(जैतल)	
११ माडिल्ल	(कासव)	
१२ फागुल्ल	(सिंगल)	सिंहल

ऊपरकी सूचीमें परवारोंके और गहोइयोंके नौ गोत्र बिलकुल एक जैसे हैं और अग्रवालोंके चार गोत मिलते हुए हैं।

गहोइयोंके परवारोंके ही समान बारह गोत्र हैं परंतु अग्रवालोंके अठारह गोत्र हैं।

गहोई कौन हैं?

अग्रवालोंका थोड़ा परिचय ऊपर दिया जा चुका है। अब हम परवारोंके अतिशय सामीप्यके कारण गहोइयोंका थोड़ा परिचय देना ज़रूरी समझते हैं।

संस्कृत लेखोंमें गहोई वंशको 'गृहपति-वंश' लिखा गया है। गृहपतिसे गहवइ और फिर गहोई हो गया है। बौद्ध ग्रंथोंमें गृहपति शब्द बहुत जगह वैश्यके अर्थमें आता है *। हमारा ख्याल है कि जिस समय वैश्योंमें भेद नहीं हुए थे, आम तौरसे सभी वैश्य लोग गहवई कहलाते होंगे, पीछे जातियोंके बनने पर एक समूह गहवई या गहोई ही कहलाता रहा, उसने अपना नाम नहीं बदला जब कि दूसरे समूह नगर स्थानादिके नामोंसे आपको परिचित कराने लगे।

गहोइयोंका बुंदेलखण्डमें प्रवेश

गहोई जातिके पढ़िया एक दन्तकथा कहा करते हैं कि पवाँया या पद्मावती नगरीके कई द्वार थे। एक दिन अम्बिका देवी एक द्वार छेंक कर लेटी

*** देखो महाबोधिसभा द्वारा प्रकाशित दीघनिकाय पृ० ५१, १४३, १५४ १७१। पउमचरिय (२०-११६) में गृहस्थ, गृही, संसारीके अर्थमें भी 'गहवइ' शब्द आया है।**

हुई थीं। नगरकी स्त्रियाँ उनकी परवा किये बिना ऊपर-से निकल गईं, परन्तु पटियोंके पूर्वज बीघा-पांड़ेकी पत्नी सम्मानपूर्वक बचकर निकली, इससे प्रसन्न होकर अम्बिकाने पांड़ेजीको स्वप्नमें कहा कि मैं अन्य स्त्रियों-की अशिष्टताके कारण इस नगरीको नष्ट करने वाली हूँ, तुमसे जितनी दूर भागा जा सके भाग जाओ। आखिर पांड़ेजी अपने ग्यारह शिष्योंके साथ भाग निकले। आगे उन्हींकी सन्तान गहोई हुए और पांड़े जी की सन्तान पटिया। इस कथासे यह मालूम होता है कि परवारोंके समान गहोई भी पद्मावती छोड़कर बुन्देलखंडकी तरफ आबाद हुए थे और इन दोनों जातियोंका बहुत पुराना सम्बंध है।

समस्त वैश्य जातियोंकी मौलिक एकता

गहोई और परवार जातिके नौ गोत्र एकसे होना बहुत अर्थपूर्ण है। हमारे बहुतसे पाठक शायद यह न जानते होंगे कि पूर्वकालमें गहोई भाई भी जैनधर्मके अनुयायी थे। इस जातिके बनाये हुए कई जैन मंदि-रोंका पता लगा है ॐ। इसके सिवाय गहोइयोंका एक मूर या आँकना 'सरावगी' नामका है, जो इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि वर्तमान सरावगी गहोइयोंके पुरखा श्रावक या जैन थे।

झाँसी, चिरगाँव आदिमें परवारों और गहोइयोंमें पक्की रसोईका व्यवहार अब तक है, यह भी इस बातका सुबूत है कि पूर्वकालमें इन दोनों जातियोंमें घनिष्ठता थी और इन दोनोंका मूल स्रोत एक ही होगा। पद्मा-वति नगरीसे गहोइयोंके निकलनेकी दन्तकथा भी इस बातको पुष्ट करती है।

परवारों, गहोइयों और अग्रवालोंके गोतोंकी समा-नता इस बातका भी संकेत करती है कि पूर्वमें वैश्य जाति एक ही थी और ये सब भेद 'स्थानस्थितिविशे-षतः' बहुत बादमें हुए हैं।

परवारोंके मूर

ऊपर जो बारह गोत्र बतलाये गये हैं, उनके प्रत्येकके बारह बारह मूर बतलाये जाते हैं। इस तरह सब मिला कर १४४ मूर हैं।

गोत–मूरोंका मिलान किये बिना परवारोंमें कोई विवाह सम्बन्ध नहीं होता है, फिर भी दुर्भाग्य देखिए कि इन मूर–गोतोंकी एक भी प्रामाणिक सूची उनके पास नहीं है। एक तो उनके नाम ही अतिशय अपभ्रष्ट होगये हैं और दूसरे जो मूर एक सूचीमें एक गोत्रके अन्तर्गत है, वही दूसरी सूचीमें दूसरे गोत्रमें गिना गया है। किसी गोत्रके मूर बारहसे कम हैं और किसीके ज्यादा। डावडिम, रकिया, पद्मावती, कुम्रा, भारू, खौना आदि मूर ऐसे हैं जो दो दो गोतोंमें आते हैं *।

ॐ अहार क्षेत्र (टीकमगढ़से १० मील पूर्व) में श्रीशान्तिनाथकी प्रतिमाके आसन पर एक लेख वि० सं० १२३७ का है। उसमें 'गृहपतिवंशसरोरुहसहस्ररश्मि' (गहोई वंश रूपी कमलके सूर्य) देवपालका वर्णन है जिन्होंने बाणपुर (अहारके १६ मील) में सहस्रकूट नामका जैनमन्दिर बनवाया था, और फिर जिनके उत्तम पुरुषोंमेंसे एकने यह शान्तिनाथका मन्दिर बन वाया और प्रतिष्ठा कराई। यह लेख प्रो० हीरालाल जैन द्वारा नागरी प्रचारिणी-पत्रिकामें प्रकाशित हो चुका है।

* हमारे सामने इस समय मूर-गोतोंकी चार सूचियाँ हैं एक जैनमित्रके पौष सुदी १ सं० ९६ के अंक में प्रकाशित पं० जम्बूप्रसाद शास्त्रीकी भेजी हुई, दूसरी दो भिन्न सूचियाँ माघवदी ८ सं० ९६ के जैनमित्रमें

इस बातका पता लगाने की भी कभी कोशिश नहीं की गई है कि इस समय इन १४४ मूरोंमें से कितने जीते जागते हैं और कितनोंका नाम शेष हो चुका है।

परवारोंके मूर और गहोइयोंके आँकने

गहोइयोंमें भी मूर हैं, परन्तु उन्हें वे आँकने कहते हैं। कहा तो यह जाता है कि प्रत्येक गोत्रके छह छह मिला कर ७२ आँकने हैं; परन्तु अब इनका परिवार बढ़ कर सौके पास पहुँच गया है ‡ । इन आँकनोंकी सूची देखनेसे मालूम होता है कि खेड़ों या गाँवोंके नामोंसे इनका नाम-करण हुआ होगा जैसे बड़ेरिया, रूसिया, नगरिया, बजरंगढ़िया आदि। कुछ आँकने पेशोंके कारण भी बने हुए जान पड़ते हैं जैसे सोनी, गंधी आदि।

'मूर' का शुद्ध रूप 'मूल' होता है। मूरको एक रूढ़ शब्द ही मानना पड़ता है जो गोत्रोंके अन्तर्गत भेदोंको बतलाता है और शायद उनसे मूल गोत्रोंका ही बोध होता है। किसी मूरमें पेशेकी गन्ध नहीं मिलती।

मूरोंके जो अपभ्रष्ट नाम हमें इस समय उपलब्ध हैं, उनसे उनकी उत्पत्ति बिठाना कठिन है। यही ख्याल होता है कि गहोइयोंके समान खेड़ों या गांवोंके नामोंसे ही इनका नाम करण हुआ होगा। पद्मावती, सकेसुर, बड़ेरिया, डेरिया, बैसाखिया, बहुरिया आदि मूरोंमें ग्रामों या नगरोंका आभास मिलता भी है।

इस समय इस विषयमें इससे और अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि गोत्र प्रख्यात पुरुषोंके नामसे स्थापित हुए हैं, और मूर गावों या खेड़ोंके नामसे। गोत्र और मूरोंके विषयमें हमें यही मालूम होता है।

पोरवाड़ोंके गोत

चूंकि परवार और पोरवाड़ हमारे ख्यालसे एक ही हैं इसलिये हम पोरवाड़ोंके गोत्रों की भी यहाँ चर्चा कर देना चाहते हैं। पोरवाड़ोंके चौबीस गोत्र बतलाये जाते हैं * परन्तु उनमें गोत्र-परम्परा एक तरहसे नष्ट हो गई है। जो चौबीस नाम मिलते हैं वे पुस्तकोंमें ही लिखे हैं उनका कोई उपयोग नहीं होता है। गुजरातकी तो प्रायः सभी जातियोंने अपने गोत भुला दिये हैं। यहाँ तक कि मारवाड़में जिन ओसवालों श्रीमालोंमें गोत्रोंका व्यवहार अब भी होता है, वे ही ओसवाल, श्रीमाल गुजरातमें आकर गोत्रोंको बिलकुल ही भूल चुके हैं। इसी तरह पद्मावती पोरवाड़ोंमें भी गोत्र नहीं रहे हैं। कमसे कम उनका उपयोग नहीं किया जाता है।

क्या परिवार क्षत्रिय थे ?

वर्तमानकी अनेक वैश्य जातियाँ अपनेको क्षत्रिय

मास्टर मोतीलालजी की भेजी हुई, और चौथी बा० ठाकुरदासजी बी. ए द्वारा भेजी हुई सौ डेढ़सौ वर्ष पहलेकी हस्तलिखित पिछली सूचीमें दो गोतोंमें तेरह तेरह, दो में ग्यारह ग्यारह, एक में दस और एकमें नौ ही मूर हैं।

‡ देखो 'गहोई वैश्यबन्धु' के दिसम्बर १६३८ के विशेषांकमें श्रीयुत कुंजीलाल वकीलका विस्तृत लेख जिसमें प्रत्येक गोत्रके आँकनों पर विचार किया गया है।

* १ चौधरी, २ काला, ३ धनदाड़, ४ रतनावत, ५ धन्यौत, ६ मनावर्या, ७ हवकरा, ८ भादल्या, ९ कामल्या, १० सेठिया, ११ अधिया, १२ वरवण्ड, १३ मूत, १४ फरक्या, १५ लमेपर्या, १६ मंडावर्या, १७ मुनियां, १८ कांटचा, १९ मलिया, २० मेसौदा २१ नवेपर्या, २२ दानगढ़, २३ मेहता २४ खरड्या।

बतलाती हैं। यह संभव भी है। जैसा कि प्रारम्भमें लिखा जा चुका है, बहुतसी वैश्य जातियाँ प्राचीन गणों या संघोंकी अवशेष हैं और वे गण 'वार्ता-शस्त्रोपजीवी' थे अर्थात् कृषि, गोपालन, वाणिज्य और शस्त्र उनकी जीविकाके साधन थे। गणराज्य नष्ट हो जाने पर यह स्वाभाविक है कि उन्हें शस्त्र छोड़ देने पड़े और केवल कृषि, गोपालन और वाणिज्य ही उनकी जीविकाके साधन रह गये। कालान्तरमें अहिंसाकी भावना तीव्र होने पर खेती करना भी उन्होंने छोड़ दिया, जिसके साथ साथ गोपालन भी चला गया और तब उनकी केवल वाणिज्यवृत्ति रह गई।

इसके सिवाय इतिहासके विद्यार्थी जानते हैं कि प्रख्यात गुप्तवंश मूलमें वैश्य ही था जिसमें समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त जैसे महान् सम्राट हुए हैं। सम्राट हर्ष वर्धन भी वैश्य वंशके ही थे। ऐसी दशामें बहुतसी वैश्य जातियाँ यदि अपनेको क्षत्रियोंका वंशज कहती हैं, तो कुछ अनुचित नहीं है। वृत्तियाँ तो सदा ही बदलती रही हैं।

प्राग्वाटों या पोरवाड़ोंमें तेरहवीं सदी तक बड़े २ योद्धाओंका पता लगता है। प्राचीन कालमें इस जातिको 'प्रकटमल्ल' का विरुद मिला हुआ था। पाटण नरेश भीमदेव सोलंकी (ई० स० १०२२-१०६२) के प्रसिद्ध सेनापति विमलशाह पोरवाड़ ही थे जिन्हें द्वादशसुर त्राणछत्रोत्पाटक (बारह सुलतानोंका छत्र छीननेवाला) कहा जाता था और जो आबूके प्रसिद्ध आदिनाथके मन्दिरके निर्माता थे। इसी तरह आबूके जगत् प्रसिद्ध जैनमन्दिरोंके निर्माता वस्तुपाल तेजपाल (वि० सं० १२८८) भी पोरवाड़ ही थे, जो महाराजा वीरधवल बाघेलाके मन्त्री और सेनापति थे। ये जैसे वीर थे वैसे ही दाता और धर्मोद्योतक थे। इनके बादमें भी पोरवाड़ोंमें अनेक राजनीतिज्ञ और वीर मन्त्री और सेनापति हुए हैं, जिससे यदि पोरवाड़ोंको क्षत्रिय कहा जाय तो अनुचित न होगा।

पोरवाड़ और परवार मूलमें एक ही हैं यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। परन्तु परवारोंका इतिहास अभी तक अन्धकारमें ही है। हम सिर्फ मंजु चौधरी नामक परवार वीरको ही जानते हैं जिन्होंने नागपुरके भोंसला राजाकी ओरसे उड़ीसा पर चढ़ाई की थी और जिनके वंशके लोग अब भी कटकमें रहते हैं।

परवारोंके इतिहासकी सामग्री

लेख समाप्त करनेके पहले मैं अपने पाठकोंके समक्ष यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि साधन सामग्रीकी कमीसे यह लेख जैसा चाहिये वैसा नहीं लिखा जा सका। मित्रोंका अत्यन्त आग्रह न होता तो शायद मैं इसके लिखनेकी कोशिश भी न करता। लिखते समय जिन जिन साधन-सामग्रियोंकी कमी महसूस हुई, उनका उल्लेख भी मैं इसलिए यहाँ कर देना चाहता हूँ कि परवार—समाज यदि वास्तवमें अपना प्रामाणिक इतिहास तैयार करना चाहती है तो इस ओर ध्यान दे और इस सामग्रीको लेखकोंके लिये सुलभ कर दे।

१ मूर-गोतावलीका शुद्ध पाठ—इस समय मूर गोतोंके जो पाठ मिलते हैं वे बहुत ही भ्रष्ट हैं उनमें परस्पर विरोध भी है। इसलिए जरूरी है कि पुराने २ लिखे हुए 'सकेसरा' जगह जगहसे खोजकर संग्रह किए जाँय और फिर उन सबका मिलान करके किसी इतिहासज्ञ विद्वान्से एक शुद्ध पाठ तैयार कराया जाय।

२ प्रतिमा-लेख-संग्रह—प्रायः प्रत्येक धातु पाषाणकी प्रतिमाओंके आसन पर कुछ न कुछ लेख

रहता है, जिसमें प्रतिमा स्थापित करने वालों और प्रतिष्ठाचार्यका उल्लेख अवश्य रहता है। उसमें संघ, गण, गच्छ, और जाति गोत्रादि भी लिखे रहते हैं। नवीं–दसवीं शताब्दिसे इधरके ऐसे हजारों लेख संग्रह किए जा सकते हैं। कहीं कहीं उस समयके राजाओंका भी उलेख मिल जाता है। मध्यकालीन इतिहास पर इन लेखोंसे बहुत प्रकाश पड़ सकता है। इन लेखोंके प्रकाशित हो जाने पर वर्तमान सभी जातियोंका इतिहास लिखा जा सकेगा, उन जातियोंका भी पता लगेगा जो पहिले जैन धर्म धारण करतीं थीं परन्तु अब छोड़ बैठीं हैं। इससे जैनाचार्योंकी भी गण-गच्छादि–सहित एक सिलसिलेवार सूची समय–क्रमसे तैयार हो जायगी जो जैन साहित्यके इतिहासके लिए भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

इनके लेखोंके समक्ष होने पर हम बड़ी आसानीसे बतला सकेंगे कि जातियोंका अस्तित्व कबसे है। इनका विकास और विस्तार किस क्रमसे हुआ, अठसखा, चौसखा दो सखा आदि भेद कब हुए, असली गोत्र-मूर आदि क्या थे, उनमें प्रसिद्ध और प्रभावशाली पुरुष कौन कौन हुए और किस किस जाति की बस्ती किन किन प्राँतोंमें और कब तक थी।

ये लेख शुरूसे लेकर अब तकके संगृहीत किए जाने चाहिए और सभी जातियोंके होने चाहिएँ। इस कार्यमें अन्य सब जातियोंका सहयोग भी वाँछनीय है।

३ लेख और दान-पत्रादि संग्रह—प्रतिमाओंके अतिरिक्त मन्दिरोंको दिए हुए दानोंके भी सैकड़ों लेख मिलते हैं। बहुतसे इन्डियन एण्टिक्वेरी, एपिग्राफिआइडिया आदिमें प्रकाशित हो चुके हैं। वे सब भी संग्रह किये जाने चाहिए।

४ ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ और लिपि कराने वालोंकी प्रशस्तियाँ—प्रत्येक ग्रन्थके अन्तमें जो लेखकोंकी और ग्रन्थ लिखने वालोंकी प्रशस्तियाँ रहती हैं, उनमें भी जातियोंका तथा दूसरी बातोंका परिचय रहता है। इन सबका संग्रह भी बहुत उपयोगी होगा।

५ पटियोंके कागज़-पत्रोंका अन्वेषण—प्राचीन कालमें वंशावलियों और कुलोंका इतिहास भाट-चारण लोग रक्खा करते थे। प्रत्येक घरसे इन्हें व्याह शादीके मौकों पर और दूसरे शुभ कार्यों पर बन्धी हुई दक्षिणा मिला करती थी। उसके बदलेमें वे लोग पीढ़ी दर पीढ़ी यह काम किया करते थे। बुन्देलखण्डमें इन्हें 'पटिया' कहते हैं। वंशावलीको पट्टावली भी कहते हैं। इन पट्टावलियोंके कारण ही शायद इनका नाम 'पटिया' प्रसिद्ध हुआ है। इन लोगोंका अब पहलेके समान सम्मान नहीं रहा, इनको दक्षिणा भी लोग नहीं देते, इसलिए अब यह जाति नष्ट प्राय है। गहोई और परवार दोनों जातियोंके 'पटिया' हैं जिनमेंसे गहोइयोंके पटिये अब भी अपने पेशेसे किसी कदर चिपटे हुए हैं। बन्धुवर सियारामशरण गुप्तके पत्र से मालूम हुआ कि गहोई जातिके पटिया कहते हैं कि उनके पास 'गृहपतिवंशपुराण' है जिसमें गहोइयोंका इतिहास है परवारजातिके पटियोंका भी अभीतक अस्तित्व है। बहुत सभव है कि उनके पास परवार वंशके सम्बन्धमें भी कोई पुस्तक हो। उनके पासके कागज़ पत्रों और पुरानी बहियोंकी छानबीन करनी चाहिए। उनके पाससे और कुछ नहीं तो पुरानी वंशावलियाँ, किंवदन्तियाँ और मूर-गोत्रावलियाँ संग्रह की जा सकती हैं। मूरों और खेड़ोंके सम्बन्धकी जानकारी भी उनसे मिल सकती है।

विविध सामग्री—अनेक भारतीय और यूरोपियन लेखकोंने जातियोंके सम्बन्धमें बीसों ग्रन्थ लिखे है, जो अंग्रेजीमें हैं। मर्दुमशुमारीकी रिपोर्टोंमें भी जाति भेद सम्बन्धी अध्याय रहते हैं, इनके सिवाय प्रत्येक जिले के गैजेटियरोंमें भी वहाँकी जातियोंके विषयमें साधारण सा इतिहास और किंवदन्तियाँ लिखी रहती हैं, ये सब पुस्तकें संग्रह की जानी चाहिए। हिन्दीमें प्रथक् प्रथक् जातियों पर और समग्र जातियों पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। कुछ पुराण भी उपयोगी हो सकते हैं! इतिहासके अन्य ग्रन्थोंका संग्रह तो होना ही चाहिए। उनकी चर्चा करनेकी ज़रूरत नहीं।

अहिंसाके कुछ पहलू

(लेखक—श्री० काका कालेलकर)

शरीर-धारण और दण्ड के लिये हिंसा

हिंसा-अहिंसाका सवाल हमारे बचपनमें खाने-पीनेके संबंधमें ही उठता था। जब वैष्णवोंका दया-धर्म और प्रेम-धर्म हमारे जीवनमें दाखिल हुआ तब 'किसी भी व्यक्तिको अपने क्रोधसे या कठोर वचनसे दुःख पहुँचानेमें भी हिंसा है और प्रिय और पथ्यवचनसे और सेवासे सबको राजी रखनेमें अहिंसा है'—इतना हम स्थूल रूपसे समझ गये।

इसके बाद इस प्रश्नने एक नया ही रूप पकड़ा। 'जालिमको सज़ा देनेके लिये, गुनहगार-को दण्ड देनेके लिये, भी हम हिंसाका आश्रय न करें'—यह ख़याल गांधीजीने हमारे सामने पेश किया। जलियानवाला बाग़के बाद जो राष्ट्रव्यापी आन्दोलन गांधीजीने शुरू किया, उसमें यह ख़ासियत थी कि गांधीजी जनरल डायरको सज़ा नहीं दिलाना चाहते थे। हिन्दुस्तानके पैसेसे जो पेन्शन डायरको मिलती थी उतनी बन्द करानेसे और सरकारके डायरका दोषी होना स्वीकार करनेसे गांधीजीको संतोष था। इसी दृष्टि और वृत्तिको गांधीजीने देशसे भी स्वीकार कराया।

अहिंसाके चार पहलू

निरामिष आहार करके पशु-पक्षियोंकी हिंसा न करना अहिंसाका एक पहलू था। कठोरताको छोड़कर सभोंके साथ कोमलतासे पेश आना अहिंसाका दूसरा पहलू था। अत्याचारी और गुनहगारको सज़ा न देकर केवल उसे दोषी जाहिर करके ही संतोष मानना अहिंसाका तीसरा पहलू था। फिर "गुनहगारने गुनाह किया, हत्या करने-में वह सफल हुआ, या निष्फल हुआ, किन्तु अन्तमें वह राजपुरुषोंके हाथमें आगया। अब कानूनकी दुहाई देकर हम उसका बदला लें यह उचित है ?—या केवल उसे दोषी ठहरा कर छोड़ दें यही अच्छा है" ?—यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न, या पहलू, हमारे सामने आया।

इससे आगे बढ़कर 'आत्मरक्षाके लिये भी हम किसीकी हत्या करें या न करें, कहीं पर प्रति-हिंसाका प्रयोग करें या न करें'—यह महत्वका सवाल है।

आत्मरक्षणार्थ हिंसा

कुछ लोग यह कहते हैं कि पेट पालनेके लिये जो हिंसा करनी पड़ती है उसे तो सदोष नहीं समझना चाहिये, कम-से-कम उसे क्षम्य तो समझना ही चाहिये। यह दृष्टि बहुतसे लोगोंकी है। अगर भरण-पोषणके लिये हिंसा जायज़ है, तो आत्म-रक्षाके लिये वह जायज़ क्यों नहीं है ?' —यह सवाल स्वाभाविकतया उठता है। और आत्म-रक्षाका सवाल इतना गूढ़ है कि आत्म-रक्षण किसे कहें और आक्रमण किसे कहें, इसका निर्णय बड़े बड़े धर्मज्ञ पंडित भी नहीं कर सकते।

अगर एक सांप मेरे बगीचेमें या घरमें घुस जाये, तो मैं उसे मारूं या नहीं? न तो उसने किसीको काटा है, न किसी पर आक्रमण किया है। तो भी लोग उसे मार डालते हैं और कहते हैं कि शायद वह काट ले, शायद वह आक्रमण करे।

यह बात तो ऐसी ही हुई कि हलवाईकी दूकानके सामने जो बच्चे खड़े हैं, वे मिठाई उठाकर खा जायेंगे इतनी संभावनाके लिये उन्हें पकड़ कर क़ैदमें भिजवा दिया जाये! आज इङ्गलेण्ड और जर्मनी—दोनों—आत्म-रक्षाके लिये लड़ रहे हैं। जापान भी शायद चीनसे आत्म-रक्षा ही के लिये लड़ रहा है।

गांधीजी कहते हैं कि आत्म-रक्षाका प्रयत्न भी अहिंसक पद्धतिसे ही करना चाहिये। अपवादके रूपमें उनका इतना ही कहना है कि कायर बनकर भागजाना और मनसे हिंसा करते रहना ज्यादा बुरा है। इसकी अपेक्षा निर्भय और बहादुर होकर हिंसा करना भी अच्छा है; क्योंकि उस रास्ते किसी न किसी दिन मनुष्य अहिंसा तक पहुँच जायगा।

जीवनमें हिंसा और अहिंसाका स्थान

जब मैं अहिंसाका विचार करने लगता हूँ, तो मुझे गीताका वह वचन याद आता है, जहाँ भगवानने कहा है कि यह दुनिया सत् और असत्, दोनों, तत्त्वोंसे बनी हुई है; दोनों भगवान्की ही विभूतियाँ हैं। उसी तरह जीवन में हिंसा और अहिंसा दोनोंको स्थान हैं; किन्तु दोनोंमें यह भेद है कि हिंसाको जीवनमें स्थान होते हुए भी उसमें जीवनकी कृतार्थता नहीं है। हिंसाको स्थान होते हुए भी उसका समर्थन नहीं हो सकता। Violence is the fact of Life, Non-Violence is the Law of Life. Violence sometimes makes for Life, Non-violence is the fulfilment of Life.

(हिंसा जीवनकी एक वास्तविकता है, अहिंसा जीवनका धर्म है। हिंसा कभी कभी जीवनको निबाहती है; अहिंसामें जीवनकी परिपूर्णता है।)

ऐसी हालतमें जिस प्रकार हम यह प्रार्थना करते हैं कि "हे प्रभो! हमें असत से सत्का और अंधकारसे प्रकाशकी ओर और मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ"; उसी तरह हमें यह भी प्रार्थना करनी होगी कि "हे भगवन, हमें हिंसा से अहिंसा की ओर ले जाओ"। प्रारंभ तो हिंसामें ही है, उसपर विजय पाकर हमें अहिंसाकी ओर बढ़ना है।

अहिंसाका प्रथम उदय

जब मैं सोचता हूँ कि इतिहास-पूर्वकालमें, जब कि मनुष्य-प्राणी अग्नि सुलगाना भी नहीं जानता था और जब हाथीसे भी बड़ी छिपकली दुनियामें घूमती थी और बड़े बड़े अजगर गाय, बैल जितने बड़े जानवरोंको खा जाते थे तब मनुष्य अपनी रक्षा किस अहिंसासे कर सकता था? वहाँ जीनेके लिये हिंसा अपरिहार्य ही थी? अहिंसाका ख़याल तक लोगोंको नहीं था। उस जमानेमें दिन-रात एक ही बात हर एकके दिलमें उठती थी कि हम अपनी जान कैसे बचावें? हमें

आहार कैसे मिले ? औरोंका ख़याल करनेके वे दिन थे ही नहीं। किन्तु ऐसे वायुमण्डलमें भी माता के दिलमें अपने बच्चोंके प्रति प्रथम अहिंसा का ख़याल पैदा हुआ, बादमें स्वार्थ-त्यागका और बलिदानका। उस ज़मानेमें अगर हम सांप, सिंह, हाथी आदि जानवरोंसे बचनेके लिये अहिंसाका ही प्रयोग करते, तो कौन जाने क्या नतीजा आता ?

आज हम मांसाहारके बिना जी सकते हैं। एक ज़माना था जब मनुष्यको यह विश्वास ही न था कि मांसाहारके बिना भी जिया जा सकता है। आज हम मानते हैं कि 'वनस्पतिको मार कर खाये बिना हम जी ही नहीं सकते, और इस लिये हमें वनस्पतिकी हिंसाको हिंसा नहीं समझना चाहिये।'

हिंसाके कुछ समाज-मान्य रूप

इसी तरह आज हम सामाजिक जीवन सुरक्षित करनेके लिये प्लेग आदि रोगोंके जन्तुओं का नाश करनेमें कोई दोष नहीं देखते। मच्छरोंको और खटमलोंको मारते समय किसीको यह ख़याल नहीं होता कि ऐसा करनेका हमें कोई अधिकार नहीं है।

गांधीजीने भी इस बातको स्वीकार किया है कि राष्ट्र-राष्ट्र के बीच अहिंसाका पालन करनेका इतना आग्रही प्रचार करते हुए भी चोरों और लुटेरोंके उपद्रवसे बचनेका और उनपर अहिंसाका प्रभाव डालनेका उनके पास कोई उपाय या तरकीब नहीं है। आदमी जब मतवाले होकर किसी शहर में खून-खराबी करने लगते हैं, या मकान जलाने लगते हैं, तब भी उन परगोली न चलानेकी सलाह जो गांधीजी देते हैं और कहते हैं कि ऐसी हालतमें चन्द शूरवीरोंको अपने प्राणों की परवाह न कर मतवाली जनताके सामने अपना बलिदान देनेके लिये जाना चाहिये; वे ही गांधीजी चोर और डाकुओंके साथ वैसा करनेकी सलाह नहीं देते। उन्मत्त जनता चाहे 'जितनी पागल क्यों न हो, आखिर वह समाजकी प्रतिनिधि है। किन्तु चोर और डाकू समाजकी केवल विकृति ही हैं।' इसलिये चोरों और डाकुओं को समाज-प्रतिनिधि सरकारके द्वारा सज़ा दिल-वाना जायज़ माना जाता है।

स्वाभाविक हिंसाका निग्रह

अब जो लोग लूट-खसोट ही का धन्धा करते हैं, आजीविकाका दूसरा कोई साधन जानते ही नहीं, उनके द्वारा जो हिंसा होती है वह उसी कोटिकी हिंसा है, जो बिल्ली चूहेको मारते समय करती है। बिल्लीको यह ख़याल तक नहीं होता कि वह चूहेको दुःख दे रही है। इसी तरह लूट-खसोट करने वाले लोग और मनुष्यका अपहरण करके उसका धन छीनकर उसको छोड़ देनेवाले पठान भी हिंसा-अहिंसाका ख़याल ही नहीं कर सकते।

जिसकी समझ में हिंसाका दोष आ सकता है, जिसके मनमें अहिंसाका उदय हो सकता है, उसी के लिये सत्याग्रहका मार्ग है। हिटलर, मुसोलिनी और स्टेलिन अपनी संहार-लीला भले ही चलाते हों; किन्तु वे भी अहिंसाको समझ सकते हैं। इतना ही नहीं; किन्तु अहिंसासे प्रभावित भी हो सकते है। किन्तु शेर या भालूके ख़िलाफ़ हम

चाहे जितना सत्याग्रह क्यों न करें, वे हमारी बात समझ ही नहीं सकते।

घर में जब बिल्ली घुस जाती है तब हम उसे बाहर जानेके लिये मुँह से नहीं कहते, किसीके द्वारा सूचना भी नहीं देते, किन्तु उसे प्रयत्न-पूर्वक भगा देते हैं। उसी तरह जो लोग स्वभावतः अत्याचारी हैं और जिनके पास दूसरा कोई पेशा ही नहीं है ऐसे लोगोंको सामाजिक संगठन-द्वारा रोकना बहुत ही जरूरी है और ऐसे रोकनेके प्रयत्नमें थोड़ी हिंसा भी हो जाय तो भी हमें उसे अहिंसा ही समझना चाहिये।

सरहद में क्या उपाय करें ?

सरहद से जब मनुष्यके अपहरणकी, जबर-दस्ती धर्मान्तर करानेकी और खून आदिकी खबरें हम सुनते हैं तब यह सोचने लगते हैं कि इसका क्या इलाज करें ?

लोगोंके जान-मालकी रक्षा करनेका ठेका जिसने लिया है वह सरकार इसका इलाज या तो कर नहीं सकती है, या करना नहीं चाहती है। और अगर चाहती भी हो, तो उसके लिये काफी प्रयत्न नहीं करती है। ऐसी हालत में हमें क्या करना चाहिये ? जवाब स्पष्ट है। यदि हम अपना बलिदान दे सकते हैं तो शुद्ध अहिंसक बनकर प्रसन्नता से बलिदान दे दें। यदि यह हमसे न बनें, तो अपनी जानको खतरे में डालकर जिस तरह हो सके, अत्याचारोंका प्रत्यक्ष विरोध करना सीखें। और अगर यह भी न कर सकें या ऐसा करने में राजकीय परिस्थितिके कारण कामयाब न हो सकें, तो हिजरत करके अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिये और साथ साथ सरकारको भी ठीक करने की कोशिश करनी चाहिये।

जब तक ऐसा कोई इलाज हाथमें नहीं आया है, तब तक या तो सब तरहके कष्ट सहन कर लेने चाहियें, सब तरहकी यन्त्रणायें बरदाश्त करनी चाहियें, या फिर आत्महत्या करनी चाहिये।

सरकार जिम्मेवार है

कहा जाता है कि काठियावाड़के बहारवटिया-बागी लोग जब किसी राजासे न्याय नहीं पा सकते थे, तो निर्दय होकर उस राजाकी बेकसूर रियायाको परेशान करते थे। अब जब सरहदकी मुसलमान प्रजासे हम बच नहीं पाते हैं, तब उनके साथ लड़नेकी अपेक्षा हमें अपनी सरकारको ही तङ्ग करना चाहिये। राजाके दोषके लिये जनता-को दण्ड देना उतना न्याय नहीं है जितना कि जनताके दोषके लिये राजाको दण्ड देना है। अगर देशी राजा हमें परेशान करते हैं, तो हम इसका इलाज ब्रिटिश सरकारको ही ठीक करके कर सकते हैं। अगर सरहदके मुसलमान हिन्दुओं का अपहरण करते हैं, तो उसका इलाज उन मुसलमानोंसे बैर करनेसे नहीं होगा; किन्तु ऐसी हालतको मंजूर रखने वाली सरकारको ही दण्ड देने से हो सकता है। तब जाकर सरकार अपने कर्तव्यको पहचानेगी। *

* 'सर्वोदय' के वर्तमान मई मासके १०वें अंक से उद्धृत।

छोटे राष्ट्रोंकी युद्ध-नीति

(लेखक—श्रीकाका कालेलकर)

हिटलरने कितना बड़ा अत्याचार किया है। अयुद्ध्यमान नार्वे पर आक्रमण करके उस देश पर उसने कब्जा कर लिया! नार्वेके लोगों का कुछ भी कसूर नहीं था। उनका दोष एक ही था कि वे पागल होनेसे इनकार करते थे। उनका तटस्थ रहना न इंगलैंडको पसन्द था, न जर्मनी को। ज़बरदस्त लोगोंका एक सिद्धान्त अंग्रेजीमें बहुत सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त किया गया है—

Those who are not with us, are against us' (जो हमारे साथ नहीं हैं वे हमारे खिलाफ़ हैं।) सत्ताभक्त इसीमें थोड़ा सुधार करके कहते हैं–"Those who are not under us, are against us." (जो हमारे काबूमें नहीं हैं वे हमारे दुश्मन हैं।) नार्वेके कठिन कालमें भी चर्चिल साहब उसकी हंसी करनेसे बाज़ नहीं आए। आप कहते हैं कि 'हम जब कहते थे, तब तुम हमारे साथ नहीं हुए। तुमने तटस्थ रहना मंजूर किया। अब भुगतिये उसका फल।!" हिटलर भी उनसे कहता होगा, "तुम्हारा तटस्थ रहना हमारे लिये ख़तरनाक है। तुम तटस्थ रह ही नहीं सकते। इंगलैंड आत्म-रक्षाके लिये तुम पर आक्रमण किये बिना नहीं रह सकता। देखो, ये सुरङ्ग तुम्हारे समुद्रमें वे बोने लगे हैं। कहाँ रही तुम्हारी तटस्थता? यह दुनिया या तो ईश्वर की रहे या शैतान की। इसमें तीसरा कोई भी रह नहीं सकता। या तो हमारे अधीन हो जाओ, या फिर हमारे विरोधमें हो रहो।"

तमाम दुनियाका शस्त्रवाद एक मुखसे कहता है, 'Woe to the neutrals! (तटस्थोंका बुरा हाल है!) और दुनियाभरके तानाशाह इसीको प्रतिध्वनित करते हुए कहते हैं, Woe to the small nationalities that dream of an independent existence.'(जो छोटे छोटे देश आज़ाद रहना चाहते हैं उनकी कज़ा है!)

हम भी ज़रा अपने देशका इतिहास देखें। प्राचीनइतिहास नहीं, अंग्रेजोंके आगमनके बादका।

अंग्रेजोंको अपनी फौज सिंधमें से लेजानी थी। सिंध मीरोंका स्वतंत्र मुल्क था। अंग्रेजोंको अपनी फौज सिंधमें से लेजाने का कोई अधिकार नहीं था। सिंधके मीरोंने अंग्रेजोंका कोई भी नुक़सान नहीं किया। उन्होंने अंग्रेजोंसे कहा, 'तुम्हारे झगड़ेमें हमें नहीं पड़ना है। हमें तटस्थ ही रहना है।' किन्तु अंग्रेजोंको अपनी फ़ौज लेही जानी थी उन्होंने कहा कि, 'अगर तुम हमारी आक्रमणकारी नीति में मदद नहीं करते, तो तुम हमारे दुश्मन हो' अंग्रेजोंने सर चार्लस् नेपीयरको हुक्म दिया कि वह सिंधपर धावा बोलदे और उस सूबेपर हमेशाके लिये कब्जा भी करले। अगर अंग्रेज ज़बरदस्ती अपनी फ़ौज लेजाते और सिंधके मीरोंसे कहते, 'माफ़ कीजिये, राजनीतिमें न्याय-अन्याय हमेशा नहीं देखा जा सकता। हमने जबरदस्ती तो की; किन्तु अब हमारा काम हो चुका है। आपका सिंध हड़प करनेका हमें कोई कारण नहीं है। आप अपने देशमें अमन-चैनसे राज कर सकते हैं'—तो भी हम उनकी बात समझ सकते। लेकिन बहाना मिलते ही—बल्कि असल बात तो यह थी कि बहाना नहीं; वरन् मौका मिलते ही—सर चार्लस्, नेपीयरने सिंधपर कब्ज़ा कर लिया। बेचारा

फ़ौजका अफ़सर ठहरा। Theirs not to question why, Theirs not to make reply.

उसको बहुत बुरा लगा। लेकिन उसने सिंध पर कब्जा तो किया ही। जब उसे सरकारको यह लिखना था कि सिंध मेरे हाथमें आगया है, तो उसने लिपिसे लाभ उठाकर अपने दिलका दर्द भी व्यक्त किया। I have Sind लिखने की जगह उसने लिखा I have Sin'd,

कोई भी अंग्रेज़, अमलदार या इतिहासकार, इस अत्याचारका समर्थन नहीं कर सका है। चन्द निर्लज्ज लेखक लिखते हैं कि हमारे अत्याचारके फलस्वरूप सिंधके लोगोंको अच्छी राज-व्यवस्था मिलगई, यही सिंध लूटनेका समर्थन है!

यूरोपका वर्तमान युद्ध अभी खतम तो नहीं हुआ है। अगर फ्रांस या इङ्गलैण्ड आक्रमणके रास्ते और सख्तीकी राजी खुशीसे बेलजियनोंसे उनका देश ले लें, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

हमें हिटलरके राक्षसी कृत्यका समर्थन बिलकुल नहीं करना है। हमें तो इतना ही कहना है कि— **'युद्धातुराणां न नयो न लज्जा'**—जो युद्धातुर होते हैं वे न धर्मको पहचानते हैं, न लोक-लज्जाका नियन्त्रण जानते हैं।

एबेसीनियासे लेकर नार्वे तकका इतिहास जो हम अपनी आंखोंके सामने बनता देख रहे हैं, उससे सिद्ध होता है कि युद्धका रास्ता इङ्गलैण्ड फ्रांस, जर्मनी, रूस, इटली, अमेरिका और जापान के लिये है। बाकीके जितने राष्ट्र हैं उनके लिये फ़ौज रखना और न रखना बराबर ही है। युद्ध करके देशके बहादुर से बहादुर नवयुवकोंका युवकोंका नव दिनका बलिदान देकर गुलाम बनो, अथवा "Thank God we surrender (भगवान्को धन्यवाद, हम शरण गये!) कहके बिना लड़े गुलाम बन जाओ। ऐबीसीनिया, स्पेन, पोलेण्ड आदि देशोंके लोग कुछ कम बहादुर नहीं थे। नसीबवादी चीन देशके लोगोंने तो—चन्द वीरोंने ही नहीं, किन्तु सारीकी सारी जनता ने-जो वीरता बताई है, उसे भविष्यका इतिहास आश्चर्य-चकित होकर अंकित करेगा और उसे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दैववादमें ईश्वर-निष्ठा से कम शक्ति नहीं है। लेकिन केवल बहादुरी से कुछ नहीं होता। धन-जनकी बहुतायत, विज्ञानका वैभव और दंभ-मिश्रित अधार्मिक वृत्ति-इतनी तैयारीके बिना दुनियामें स्वतन्त्र रहना ही अशक्य-सा हो गया है। और अगर इतनी तैयारी है तो आपस में लड़े बिना चल ही नहीं सकता।

शान्तिके दिनोंमें ये छोटे राष्ट्र आपसमें लड़ नहीं सकते, क्योंकि बड़े राष्ट्र उनका नियंत्रण करते रहते हैं; और बड़ोंका कभी सवाल ही नहीं उठता। पोलैण्ड बननेके लिये अलबत्ता लड़ सकते हैं। मगर पोलैण्डके जैसा अनुभव कोई भी राष्ट्र दो दफ़ा नहीं ले सकता।

तब छोटे राष्ट्रोंकी फ़ौज किस कामकी? फ़ौजके पीछे जो खर्च किया जाता है, वह किस कामका? "कुत्ते की ताक़त शिकारीकी मददके लिये," इसी न्यायसे जेक-प्रजा और ऑस्ट्रीयन प्रजा नॉर्वे पर आक्रमण करनेके ही काम आ-सकती है।

क्या इससे बेहतर यह नहीं है कि ऊपर बताए हुए राष्ट्रसप्तकको ही लड़नेका सारा ठेका देकर बाक़ीके सब-के-सब राष्ट्र अपनी अपनी फौज तोड़कर, या विसर्जन कर, अहिंसक नीतिका प्रयोग करें और अपना एक बड़ा अहिंसक संगठन करके हिंसावादको ही निर्वीय कर डालनेकी कोशिश करें?

अब देखना यह है कि इसपर अमल कैसे हो सकता है? इस हिटलर-युद्धके अन्तमें दुनियाके सामने सबसे महत्वका सवाल यही रहेगा।*

*'सर्वोदय' के वर्तमान मई मासके १०वें अंकसे उद्धृत।

भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन का स्थान

(लेखक—श्री० हरिसत्य भट्टाचार्य B.A.,B.L.)

अनुवादक—श्री रामेश्वरजी बाजपेई

[अनेकान्त वर्ष ३ किरण २ में "बंगीय विद्वानोंकी जैन साहित्यमें प्रगति" शीर्षक लेख छपा है, उसमें श्री हरिसत्य भट्टाचार्यजीका परिचय दिया गया है। उन्हींके लिखित एक निबंधका यह हिन्दी अनुवाद पाठकोंकी सेवामें उपस्थित है। मूल लेख बंगला भाषामें 'जिनवाणी' पत्रिका में प्रगट हुआ था, बादको उसका गुजराती में अनुवाद श्रीयुत् सुशील महोदयने स्वतंत्र रूपसे प्रकाशित किया था और फिर वह 'जिनवाणी' नामक ग्रन्थ में भी भट्टाचार्यजीके अन्य लेखों के गुजराती अनुवादोंके साथ प्रगट हुवा था। मुझे भट्टाचार्यजीका यह लेख बहुत पसंद आया और मेरे मित्र श्रीरामेश्वरजी वाजपेईको, जो कि जैनधर्मके परम अनुरागी हैं, अनुवाद करनेके लिये कहने पर उन्होंने काफी परिश्रम करके उसे सम्पन्न किया है। आशा है पाठकोंको भी यह जरूर पसंद आएगा। यदि मेरा यह प्रयत्न पसंद पड़ा तो भविष्यमें भट्टाचार्यजीके अन्य लेखोंका भी हिन्दी अनुवाद प्रकट करनेका प्रयत्न किया जायगा। अगरचन्द नाहटा]

अतीतके दुर्भेद्य अन्धकारमें जितने भी तथ्य मौजूद हैं उनके प्रगट करनेके पक्षमें जो भी प्रयत्न आजतक तत्व-विद्गण करते आये हैं, वे सब प्रशंसाके योग्य होते हुये भी कभी कभी जिन घटना-समूहों या सामाजिक, विषयों का काल-निरूपण अङ्कपात-द्वारा—अर्थात् ईसवी-सन्‌के पहलेके हैं या उसके अन्तर्गत—नहीं किया जा सकता, उन्हें निरूपण करनेके प्रसङ्गमें प्राय: देखा जाता है कि विद्वद्गण बड़े भ्रममें पड़ जाया करते हैं। वैदिक कर्मकाण्डके प्रति सबसे पहले किस समय युक्ति-चालित समालोचना अवतरित हुई थी, विद्वान् लोग प्राय: उस समयको निर्दिष्ट-रूपमें निरूपण करते हुये आपसमें वादानुवाद ही नहीं करते किन्तु लड़ तक बैठते हैं। वैदिक क्रिया-काण्ड और बहु-देववादके समीप कहीं कहीं जो जो अध्यात्मवाद और तत्व-विचार देखनेमें आता है, अनेक पण्डितोंके मतानुसार वह परवर्ती कालका प्रक्षेप-मात्र है; किन्तु तत्व-विचार क्रिया-काण्डके साथ एकत्र नहीं रह सकता, तत्व-विचार किस निर्दिष्ट निरूपण-योग्य समयमें अथवा किस शुभ मुहूर्तमें सहसा उठ खड़ा हुआ है, ऐसी बातोंके सोचनेका कोई भी हेतु नहीं है। जैन-धर्म पहलेका है या बौद्ध धर्म, इस विषयमें बड़ा झगड़ा या वाद-विसम्वाद चल रहा है। किसी किसी पण्डितके मतसे जैन धर्मकी उत्पत्ति बौद्ध-धर्मसे है, पक्षान्तरमें किसी किसीके मतसे जैन धर्म बौद्ध धर्मसे भी प्राचीन है। इन वाद-विसम्वादोंके मध्य जो सत्यान्वेषणकी स्पृहा वर्तमान है वह अवश्य ही सम्मानके योग्य है। नि:सन्देह जहाँतक अनुमान है, इन सब तर्कोंका अधिक अंश बहुधा रुचिकर होते हुये भी केवल मूल्यहीन ही नहीं किन्तु किसी भी देशके तत्व-

चिन्ता-विकाशके क्रमके विषयमें उत्पन्न हुई भ्रान्त-धारणाके ऊपर अवलम्बित जान पड़ता है।

कारण, विचार-वृत्ति, जब मनुष्य-प्रकृतिका एक विशिष्ट लक्षण माना जाचुका है, तब यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि, मनुष्य समाज में चिरकालसे कुछ न कुछ अध्यात्मचिन्ता या तत्वविचार होता ही चला आरहा है। यहाँतक कि जिस समय समाज अर्थहीन क्रियाकाण्डके जालमें फँसा हुआ जान पड़ता है उस अवस्थामें भी कुछ न कुछ अध्यात्म चर्चा बनी ही रहती है। वस्तुतः क्रियाकाण्डके सम्बन्ध ही में यह कहा जा सकता है कि क्रियाकाण्ड भी सामाजिक शैशवकी सोई हुई मूढ़ताके ऊपर एक प्रकारकी आध्यात्मिकताकी अवतारणा है। सम्यक्रूपमें परिस्फुट न होने पर भी समाजकी प्रत्येक अवस्थामें ही एक विचार-वृत्ति प्रचलित नीति-पद्धतिको अतिक्रम करनेकी तथा ऊँचेसे ऊँचे आदर्शकी ओर आगे बढ़नेकी स्पृहारुपमें सदा बनी ही रहती है। इसीलिये दर्शनोंका जन्मकाल-निरुपण प्रायः असाध्य होजाता है। जो लोग भिन्न भिन्न दर्शनोंके प्रतिष्ठाता माने जाते हैं, उनलोगोंके पहले भी वे ही दर्शन-मत बीजरुपमें विद्यमान थे, यह कहनेमें अत्युक्ति न होगी। बौद्धमत बुद्धके द्वारा एवं जैनमत महावीरसे पैदा हुआ है, यह भी एक प्रकारकी भ्रान्त धारण है। इन दोनों महापुरुषोंके जन्मग्रहणके बहुत पहलेसे बौद्ध तथा जैनशासनके मूलतत्त्व-समूह सूत्ररुपमें प्रचलित थे, उन तत्व-समूहोंको विस्तृतरूपमें प्रगट करके उनकी मधुरता तथा गम्भीरताको सर्व साधारण जनताके समक्ष प्रचार करना अवश्य ही गौरवमय व्रत था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। हमारी समझमें इसके अतिरिक्त उनलोगों ने तो कुछ भी नहीं किया। मूलतत्वकी दृष्टिसे बौद्ध और जैनमत बुद्ध और वर्द्धमानके जन्मकालके बहुत पहलेसे ही वर्तमान था, अतः उपनिषदकी तरहसे दोनों ही मत प्राचीन कहे जासकते हैं।

बौद्ध और जैन मतको उपनिषद्के समकालीन होनेका कोई निदर्शन नहीं मिल रहा, इसी कारणसे इन दोनों मतोंको उपनिषद्की तरह प्राचीन नहीं कहा जा सकता, ऐसी युक्तियाँ कदापि समीचीन नहीं हो सकतीं। स्पष्टतया उपनिषदें वेदोंके प्रतिकूल नहीं थीं, इसीलिये उनकी शिष्यमण्डलीकी संख्या सबसे अधिक थी। पहले पहल अवैदिक मतसमूह किंचित् रूपमें सन्देहपूर्ण थे, इसीलिये उन्हें आत्मप्रकाशके लिये बहुत दिनों तक प्रतीक्षा भी करनी पड़ी; किन्तु अध्यात्मवादके रूपमें वे उपनिषदके समयमें मौजूद थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। चिन्ताशील महापुरुषोंने तत्वचर्चा-प्रसङ्गमें केवल उपनिषदोंके बताये हुए मार्ग ही को एकमात्र मार्ग नहीं समझा जबकि चिन्ता गति वे रोक थी और तत्वलोचनाके फलस्वरूप अवैदिक मार्ग भी आविष्कृत हो चुके थे। ऐसी दशामें अन्यान्य मतवादोंकी अपेक्षा उपनिषद् मतवाद भी कुछ ऐसा सहजबोध्य नहीं था कि यह अनुमान किया जा सके कि सबसे पहले यही आविष्कृत हुआ था।

वैदिक या अवैदिक मतवादोंने यदि एक ही समयमें पैदा होकर क्रमशः उत्कर्ष लाभ किया हो

तो उनके अन्दर बहुत से तत्व समान भी रह गये होंगे, ऐसा अनुमान असङ्गत नहीं हो सकता। अतएव भारतीय किसी भी विशिष्ट दर्शनके अध्ययन करनेके समय भारतवर्षके अन्यान्य प्रसिद्ध दर्शनोंकी तुलनाकी भी बहुत बड़ी आवश्यकता है।

बङ्ग देशमें जैन-दर्शनकी अधिक चर्चा या जैसा चाहिये वैसा उसका आदर न होने परभी यह तो मानना ही पड़ेगा कि भारतवर्षके यावतीय दार्शनिक मतवादोंमें इसका एक गौरवमय स्थान अवश्य रहा है, और आज भी है। तत्वविद्याके यावतीय अङ्ग इसमें विद्यमान होनेके कारण जैन दर्शनको एक **सम्पूर्ण दर्शन** मान लेनेमें कोई मत-भेद नहीं होना चाहिये। वेदोंमें तर्कविद्याका उपदेश नहीं है, वैशेषिक कर्माकर्म या धर्माधर्मकी शिक्षा नहीं देता; किन्तु जैन-दर्शनमें न्याय, तत्व-विचार, धर्मविचार, धर्मनीति, परमात्मतत्व आदि सभी बातें विशदरूपमें विद्यमान हैं। जैनदर्शन प्राचीनकालके तत्वानुशीलनका सचमुच एक अनमोल फल है, क्योंकि जैन दर्शनको यदि छोड़ दिया जाय तो सारे भारतीय दर्शनोंकी आलोचना अधूरी रह जायगी, यह अकाट्य सत्य है।

किस ढङ्गसे जैन दर्शनकी आलोचना करनी चाहिये, ऊपर बताया जा चुका है। हम लोगोंकी आलोचना तुलनामूलक हुआ करती है और ऐसी आलोचनायें निस्सन्देह एक कठिन विषय है, सुतरां इस प्रकारकी आलोचनाओंके लिये जबतक प्राय: सभी भारतीय दर्शनोंके सम्बन्धमें पूरी अभिज्ञता या जानकारी न हो सफलता प्राय: असम्भव है। किन्तु हमें तो इस प्रबन्धमें मूलतत्वके विषय में ही दो चार बातें बतानी हैं। जैनमतके निर्देशके लिए उसके साथ अन्यान्य मतवादोंकी तुलना नीचे लिखे गये ढङ्ग से ही की जा सकती है। वस्तुत: जैमिनीय दर्शनको छोड़कर भारतवर्षके प्राय: सभी दर्शन खुले या छिपे रूपमें वेदोक्त क्रियाकलापके अन्धविश्वासके प्रति विद्वेषभावापन्न देखे जाते हैं। सच पूछिये तो संसारमें प्राय: सर्वत्र अन्धविश्वासके प्रति युक्तिवादके अविराम संग्राम ही को दर्शनके नामकी आख्या दी जा सकती है। वर्तमान प्रबन्धमें हमें भारतीय दर्शन-समूहोंको जो इसी दृष्टिकोणसे उनके प्रत्येक प्रधानतत्वोंकी आलोचना करना है। स्मरण रहे भारतीय दर्शन-समूहोंका जो क्रम-विकास इस प्रबन्धमें दिखलाया जायगा वह मात्र युक्तिगत Logical है, कालगत Choronological नहीं।

अनन्तकल्प, अर्थहीन वैदिक क्रियाकाण्डोंका पूर्ण प्रतिवाद उपस्थित चार्वाक्-सूत्रों ही में प्राय: देखा जाता है। प्रत्येक समाजमें प्रतिवाद करनेवाला एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय सदासे चला आ रहा है, तदनुसार प्राचीन वैदिकसमाजमें भी एक ऐसा सम्प्रदाय अवश्य था। वैदिक क्रियाकाण्डों पर भाषामें आक्रमण करना किसी समयमें भी कठिन बात न थी। असल बात तो यह है कि कोई भी विचारशील या तत्वका जाननेवाला मनुष्य बहुत दिनों तक ऐसे कर्मकाण्डोंमें सन्तुष्ट नहीं रह सकता। ऐसी दशा में प्रतिवाद करनेका उच्छ्वास सारे यज्ञसम्बन्धीय विधि-विधानोंके लिये यदि एक निन्दाकर कारण बन जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है। यही चार्वाकदर्शन है, वैदिक कर्मकाण्डोंका अविराम

प्रतिवाद, चार्वाक-दर्शनको प्रतिवादका दर्शन कहना चाहिये। ग्रीक देशके सोफिष्ट सम्प्रदायकी तरह चार्वाक-दर्शन भी इस बिराट् विश्व-ब्रह्माण्डके विषयमें कभी कोई मतामत नहीं प्रगट करता; तोड़ना, दोष, मढ़ देना और न मानना यही तो चार्वाकदर्शनका सिद्धान्त है। प्रशंसा करना तो दूर, किसी भी वस्तुको गाड़देना ही चार्वाकोंका एकमात्र कार्य था। वेद परलोकको मानता था, चार्वाक उसे अस्वीकार करता था। कठोपनिषद्की द्वितीय बल्लीके छठे श्लोकमें इस प्रकारके नास्तिकवादका परिचय भी मिलता है।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं-
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

उक्त श्लोकमें परलोकके प्रति विश्वासहीन मनुष्यके विषयमें ही ऐसा कहा गया है। कठोपनिषदकी छठी बल्लीके द्वादश श्लोकमें इस प्रकार नास्तिकवादके दोष दिखलाये गये हैं।

"अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते"

कठोपनिषद्की प्रथम बल्लीके बीसवें श्लोकमें भी परलोक अविश्वासी व्यक्तियोंकी ही भर्त्सना है-

"येयम्प्रेते विचिकित्सा मनुष्योस्तीऽत्यके
नायमस्तीति चेके"

वेद यज्ञसम्बन्धीय कर्मकाण्डोंका उपदेश देता है, किन्तु आस्तिकगण उन यज्ञ कर्मोंकी निःसारता बतलाते हैं, और न केवल उनका खण्डन ही करते थे किन्तु उन विधानोंको जनताके समक्ष हास्यास्पद बनानेमें भी किंचित्मात्र कुण्ठित नहीं होते थे। जिन उपनिषदोंको वेदोंका अंश माना जाता है, उन्हीं उपनिषदों में भी यत्र-तत्र कर्मकाण्डोंके दोष बतलाये गये हैं। बहुत से उदाहरणोंमें से नीचेका एक यह भी है:—

प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशो-
क्तमवरं येषु कर्म एतत् श्रेयो येऽभिनन्दति
मूढा जरा मृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।

मुंडक १।२।७

तात्पर्य यह है—

यज्ञसमूह और उसके अष्टादश अङ्ग व कर्म सभी अदृढ़ और नाशवान हैं। जो मूढ़ उन्हें श्रेय मानकर पालन करते हैं वे पुनः पुनः जरा-मृत्युको प्राप्त होते हैं।

किन्तु उपनिषद और चार्वाक मतमें जो प्रभेद है वह यह है—उपनिषदोंमें एक ऊंचेसे ऊंचे और महानसे महान् सत्यका मार्ग दिखलानेके लिये कर्मकाण्डकी समालोचना की गई है, पर नास्तिक और चार्वाक केवल दोषान्वेषण और उन्हें बुरे बतलानेके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करते थे। चार्वाक दर्शन विधिहीन निषेधवाद तथा वैदिक विधि-विधानोंकी निन्दा करना ही अपना एकमात्र उद्देश्य समझता था। हाँ, यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि मुक्तिवादकी उत्पत्ति चार्वाक दर्शनसे ही हुई थी और भारतवर्षके अन्यान्य दर्शनों द्वारा इस युक्तिवादकी पुष्टि होती चली गई।

नास्तिक चार्वाक मतकी तरह जैनदर्शनमें भी वैदिक कर्मकाण्ड की असारता बतलाई गई है, जैनदर्शनने खुलमखुल्ला वेदके शासनको न मानते हुए नास्तिकोंकी तरह यज्ञादिकी निंदा भी अवश्य की है, जहांतक अनुमान होता है, चार्वाक मतके

साथ इसीसे उसकी समता भी की जाती है। किन्तु विचारपूर्वक यदि देखा जाय तो यह कहना ही पड़ेगा कि जैनदर्शन चार्वाक मतकी तरह निषेधमय नहीं है, वरन एक सम्पूर्ण दार्शनिक मतकी सृष्टि करना ही इस जैन दर्शनका एकमात्र मुख्य उद्देश्य था। सबसे पहिले ध्यान देनेकी बात तो यह है कि चार्वाकमतकी घृणाके योग्य इन्द्रिय-सुख परमार्थताको जैनदर्शन बड़ी अवज्ञा के साथ त्याग करता है। निःसार वैदिक क्रिया-कलापोंकी आवश्यकताओंको स्वीकार न करना चार्वाक मतके लिये चाहे असङ्गत न हो, पर उन लोगोंने कभी विषयकी गम्भीरता पर ध्यान नहीं दिया और मनुष्य प्रवृत्तिके 'प्रायः उसी अंशकी ओर खिंचे रहे जोकि पशुभाव पूर्ण है। उनके विषय में यह कहा जा सकता है कि वैदिक क्रियाकाण्डके द्वारा लालसा दमन होती थी और बेरोक इन्द्रिय चरितार्थके मार्गमें काँटोंकी सृष्टि होती थी, इसीलिये वे उसे स्वीकार नहीं करते थे यदि उस क्रियाका प्रतिवाद करना ही मुख्य उद्देश्य है तो प्रतिवादका ढंग और ही किसी रूपमें होना उचित है, निःसार क्रियाकलापके अन्ध-अनुष्ठान से मनुष्यकी विचार बुद्धि तथा तर्क वृत्तिका मार्ग बंद हो जाता है, केवल इसी खयालसे प्रतिवाद उचित समझा जाना चाहिये। पर बात तो यह है कि इन्द्रियपरायण मनुष्य इस बातको नहीं समझते, केवल इसीलिये बौद्धमतके अनुसार अध्यात्मवादी जैनदर्शन चार्वाक मतको कोई स्थान नहीं देना चाहता।

चार्वाक मतके बाद ही प्रसिद्ध बौद्ध-दर्शनके साथ जैन-दर्शनकी तुलना की जा सकती है। नास्तिक मतकी तरह बौद्ध-दर्शन भी अन्ध वैदिक क्रिया-कलापका विरोध करता है, किन्तु बौद्धोंका दोषारोप तर्क और युक्तिसे रहित नहीं कहा जा सकता। बौद्धमतके अनुसार जीवनका दुःखमय अस्तित्व एकमात्र कर्मनिमित्तिक है, जो कुछ किया गया है और किया जारहा है उसीके द्वारा ही हमारी अवस्थाका निरूपण हुआ करता है। असार और अवस्तुका भोगविलास ही असावधान जीवगणोंके हृदयमें मोह पैदा करता है, और उसी भोग-लालसाके पीछे पीछे दौड़ते रहनेके कारण हम लोग जन्म-जन्मान्तर तक इस जन्ममरणरूपी संसारचक्रसे कभी छुटकारा पानेमें समर्थ नहीं होते। इस अविराम दुःख और क्लेशसे छुटकारा पानेके लिये कर्मबन्धनको अवश्य तोड़ना चाहिये। यदि कर्मके अधिकारको अतिक्रम करना है, तो कुकर्मोंको छोड़कर सुकर्मोंका अनुष्ठान, लालसाको त्याग करते हुए सन्न्यासका अभ्यास, हिंसाके बदलेमें अहिंसाके आचरणोंको अपनाना ही होगा।

वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानसे मात्र बहुतसे प्राणियोंका, जो कि निरपराध हैं, जीवन नाश ही नहीं होता, वरन् उन कर्मोंके अनुष्ठान करनेवालोंके अच्छे किये हुये कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गादि भोगमय स्थानमें भी अवश्य जाना पड़ता है, अतः वैदिक क्रियाकलाप इसी प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें जीवोंके दुःखपूर्ण जन्ममरणका एकमात्र कारण बन जाता है। इसीलिये बौद्धमतके अनुसार वैदिक कर्मकाण्डको त्याज्य माना गया है, और यही मूलसूत्र है। कर्मकाण्डके राज्यको यदि अतिक्रम करना है तो हिंसाका त्याग अवश्य

करना ही पड़ेगा। वैदिककर्मकाण्ड हिंसा-कलुषित होनेके कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें निर्वाणके मार्गमें रोड़े अटकाने वाला है, इसीलिये वैदिक विधि-विधानोंका त्याग परमावश्यकीय हो जाता है। यहाँ यह स्पष्ट हो रहा है, कि वेदके शासनको न माननेके प्रसङ्गमें चार्वाक दर्शनसे मिलते-जुलते हुये, बौद्धदर्शनने चार्वाकोंकी इन्द्रिय परायणताके प्रति दृढ़ताके साथ आक्रमण किया है। वैदिक कर्मकाण्डको त्याग करते हुये कहीं लालसाके शिकार न बन जायँ इसके लिये बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है, इसीसे कठिन संयम और सन्न्यासके द्वारा कर्मोंकी जंजीरको तोड़ डालना ही बौद्ध-दर्शनका मूल्यवान उपदेश है।

कर्मके बन्धनोंके कारण ही जीव संसारमें दुःख और क्लेशको भोगते हैं, जैन दर्शन भी इस बातको मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है। स्मरण रहे बौद्धमतके अनुसार जैन-दर्शन भी एक ओर जैसे वेदके विधानोंको नहीं मानता वैसे ही दूसरी ओर वह चार्वाककी इन्द्रियपरायणताकी भी हृदय से घृणा ही किया करता है। अहिंसा और विरति अनुष्ठानके योग्य हैं, इस बातको जैन और बौद्ध, दोनों ही समस्वरसे स्वीकार करते हैं, पर जैन मतके अनुसार अहिंसा और विरतिका अनुष्ठान विशेषरूपसे तीव्रभाव वाला अनुमान किया जाता है। कुछ भी हो, जैन-दर्शन और बौद्ध दर्शन में बहुत कुछ समता होते हुए भी इन दोनोंमें बड़ा अन्तर मौजूद हैं। बौद्ध-दर्शनकी नींव उतनी दृढ़ नहीं जितनी कि जैन-दर्शनकी है।

जाँचकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह स्पष्टरूपमें प्रगट हो जायगा कि बौद्धमतकी इस सुहावनी नीतिके ऊँचे महलकी नींव कितनी दुर्बल है। वेदके शासनको न माननेका उपदेश ग्रहण योग्य हो सकता है, अहिंसा या सन्यासका अनुष्ठान चित्तग्राही माना जा सकता है, कर्मबन्धनों के तोड़नेका आदेश सारगर्भित स्वीकार किया जा सकता है; किन्तु यदि बौद्ध दर्शनसे यह पूछा जाय कि हम क्या हैं, हमारा उद्देश्य और परमपद क्या है ? तो जो उत्तर कि बौद्ध-दर्शनकी ओर से हमें मिलेगा वह कदाचित बड़ा ही डरावना और रोंगटे खड़े कर देने वाला होगा। यदि यह उत्तर दिया जाता है, कि हम कुछ भी नहीं, ऐसी दशामें यह प्रश्न उठ खड़ा होता है तो क्या हम केवल अन्धकार ही में भटक रहे हैं ? सारहीन महाशून्यता ही क्या जीवोंका चरमस्थान है ? और क्या उसी भाँति पैदा करनेवाले महानिर्वाण और अनन्त कालकी महानिस्तब्धताको बुलानेके लिये ही यह जीव कठोर सन्यास व्रत ग्रहण करते हुए जीवनके छोटे से छोटे (?) सुख तकको त्याग कर देगा ?

यह जीवन असार है, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह नहीं चाहिये, बौद्धदर्शनके इस निरात्मवादसे साधारण मनुष्य कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते, यह तो निश्चितरूपमें मानना ही पड़ेगा। किसी समय बौद्धदर्शनका प्रचार बहुत बड़े रूपमें हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं; किन्तु वह उसकी निरात्मवादिताके कारण नहीं प्रसिद्ध "मध्य-पथ" अर्थात बुद्धके बताये हुए मध्यमार्गकी सहज

तपस्याके आकर्षणने ही जैनों तकको बौद्धमत ग्रहण करनेमें प्रवृत्त किया था। मैं हूँ यह सभी अनुभव करते हैं, कौन इस बातको नहीं समझता कि मैं केवल निःसार छाया नहीं हूँ और सत्य हूँ।

आत्मा अनादि अनंत है यह तो उपनिषदोंकी हर एक पंक्ति में बड़े ही चमकने वाले रूपमें अङ्कित है। वेदान्त-दर्शन भी इस तत्वको दिगन्त मुखरित करनेवाली आवाजसे जोरोंके साथ प्रचार कर रहा है। आत्मा है आत्मा सत्य है, वह सृष्ट पदार्थ नहीं किन्तु अनन्त है, आत्मा जन्म-जन्मान्तर ग्रहण करता चला आरहा है, सुख और दुःखका भोक्ता है, ऐसा अवश्य प्रतीयमान होता है; किन्तु यह सत्ता है, असीम ज्ञान और आनन्दके सम्बन्ध में भी उसे असीम और अनन्त ही समझना होगा। वेदान्तका यही मूल प्रतिपाद्य विषय है। आत्माकी असीमता और अनन्तत्वको जैन-दर्शन भी स्वीकार करता है, इसीलिये यहाँ जैन-दर्शन और वेदान्त-दर्शनमें किसी प्रकारका विरोध नहीं पाया जाता।

बौद्ध-दर्शनके निरात्मवादके प्रति आक्रमण और आत्माकी अनन्त सत्ताको स्वीकार करनेके कारण ही जैनमत और वेदान्तमत में कोई भेद नहीं जान पड़ता, फिर भी ये दोनों एक नहीं है। वदान्तिक जीवात्माकी सत्ताको केवल स्वीकार ही नहीं करते, बल्कि दर्शन जगत्में वे और भी कुछ आगे बढ़कर निर्भीकरूपमें जीवात्मा और परमात्मा का अभेद प्रचार किया करते हैं। वेदान्तमतके अनुसार यह चिदचिन्मय विश्व उसी एक और अद्वितीय सत्ताका विकासमात्र है। "मैं," "वह" और विश्व का उपादान "वह," मैं उससे भिन्न नहीं, कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, यह दिखलाई पड़ने वाला अनन्त जगत यद्यपि मुझसे अलग सा जान पड़ रहा है, वह भी उससे अलग स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं, एक अद्वितीय सत्ता—वह तुम हम चिदाचिद् भाव उस 'सत्यस्य सत्यम्' से सम्पूर्ण रूपसे अपृथक् ही हैं।

वेदान्तका 'एकमेवाऽद्वितीय' वाला सिद्धान्त निस्सन्देह बहुत गम्भीर और महान है, किन्तु साधारण मनुष्यके लिये इतने ऊंचे भावका ग्रहण एक कठिन विषय होजाता है। जीवात्मा एक सत्ता है, साधारण मनुष्य यह तो अवश्य अनुभव करते हैं; किन्तु एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यमें कोई भेद नहीं, मन, जड़ पदार्थ और अन्यान्य देख पड़नेवाली सभी वस्तुओंमें कोई भेद नहीं, इस बातको वे स्वीकार नहीं करना चाहते।

यदि कोई ज्ञानी पुरुष ऐसा सिद्धान्त करना चाहे कि वह दूसरे मनुष्यसे या अन्यान्य अचेतन और चेतन भावोंसे भी स्वतन्त्र है और यह संसार चिदचित् अगणितभावोंसे परिपूर्ण है, तो उसके इस सिद्धान्तको युक्तिहीन नहीं कहा जा सकता, हम भी यही कहना चाहते हैं कि ऐसे सिद्धान्त कदापि युक्तिहीन नहीं होसकते, बल्कि संसारके अधिकांश मनुष्य इस प्रकारके अनुभवगम्य सुयोग्य सिद्धान्तों को ही ग्रहण किया करते हैं, इसीलिये प्रायः वेदान्तमतको बहुतसे लोग ग्रहण नहीं करना चाहते।

कपिलके प्रसिद्ध सांख्यदर्शनके मतवादका भी बिचार यहाँ करना आवश्यक है। वेदान्तकी तरह

सांख्य भी आत्माके अनादित्व और अनन्तत्वको अवश्य स्वीकार करता है, किन्तु सांख्य आत्माके एकत्वको नहीं मानता। सांख्य और वेदान्तमें और भी एक पार्थक्य है, सांख्यमतके अनुसार पुरुष या आत्माके साथ मिले हुये रूपमें क्रिया करने वाली अचेतना प्रकृतिके नामकी एक विश्व-रचना करनेवाली शक्ति विद्यमान रहती है। इस प्रकारसे आत्माके अनादित्व अनन्तत्व और और असीमत्वको सांख्य मानता है और उस मतके अनुसार आत्मा अनेक है। कपिलके मतानुसार पुरुषसे स्वतन्त्र और पृथक एक अचेतन प्रकृति है, पुरुषसे पृथक होते हुए भी वह थोड़ी देरके लिये पुरुषसे मिली हुई जान पड़ती है, इस विजातीय प्रकृतिके अधिकारसे आत्माको पृथक रूपमें अनुभव करनेका नाम ही मोक्ष है।

जैन-दर्शन भी आत्माके अनन्तत्व और अनादित्वको मानता है। कपिल-दर्शनकी तरह जैन दर्शन भी स्वभावत: स्वतन्त्र आत्माको बन्धन में लाने वाले एक विजातीय पदार्थका होना स्वीकार करता है। सांख्य मतके अनुसार जैन मतमें भी आत्माको अनेक कहा गया है, सांख्य और जैन इन दोनों ही दर्शनोंके मतानुसार विजातीय पदार्थके सम्बन्धसे आत्माको पृथक् करनेका नाम ही मोक्ष है।

अब यहाँ देखना है कि, प्रत्येक मनुष्य अपने सामने अपने आप ऊँचेसे ऊँचा और बड़ेसे बड़ा एक आदर्श रखना चाहता है। भक्तोंका विश्वास है एक ऐसा पुरुष ईश्वर, प्रभु या परमात्मा है, जो कि पूर्णताका अनन्त आधार है। महान् पवित्र आदर्श और पूर्ण ज्ञानवीर्य-आनन्दके आधार एक पुरुष प्रधानके होनेका विश्वास मनुष्यकी प्रकृति-सिद्ध बात है, गहरी दैवसत्तामें विश्वास ही का नाम यदि धर्म है तो धर्मके प्रति विश्वास या धार्मिक होना ही मनुष्यकी प्रकृतिगत बात हुई। ऐसा भी कहा जा सकता है कि ज्ञान, वीर्य, पवित्रता आदि सभी बातोंमें हमलोग क्षुद्र, ससीम और बँधे हुए हैं, ऐसी दशामें जिन सब बातोंमें हम अधिकार पाना चाहते हैं वे सभी बातें जिसमें उज्ज्वल या पूर्णरूपसे विद्यमान हों, ऐसे शुद्ध और पवित्र प्रभु या परमात्माके प्रति यदि हम स्वभावत: विश्वास रखते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है।

टीकाकारोंकी व्याख्याको यदि छोड़ भी दिया जाय तो स्पष्टरूपमें समझमें आजायगा कि सांख्य दर्शनमें ऐसे शुद्ध और पूर्ण परमात्माका कोई स्थान नहीं है, ऐसे शुद्ध परमात्माके होनेमें विश्वास करनेकी जो जीवोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है भारतीय-दर्शनोंमें उसी आकांक्षाको पूरी करने की पूरी पूरी चेष्टा की गई है।

सांख्यकी तरह योगदर्शन भी आत्माकी सत्ता और अनेकत्वको स्वीकार करता है, किन्तु योगदर्शन थोड़ा सा और भी आगे बढ़कर जीवात्माओंका अधीश्वर अनन्त आदर्शरूपी एक परमात्माको बतलाया है। यही योगदर्शन और जैन दर्शनमें समता पाई जाती है। योगदर्शनकी तरह जैनमत भी परमात्मरूपी प्रभुके अस्तित्व में विश्वास करता है, वह अर्हत पद वाच्य है। अर्हतरूपी ईश्वर जगत्का सृष्टिकर्ता नहीं है, वह

पूर्णताका अनन्त आदर्श शुद्ध और पवित्र परमात्मा हैं, उसी अनन्त पवित्र और पूर्ण परमात्माके बद्धजीव एकाग्र चित्तसे ध्यान करे। परमात्माके सम्मुख होनेमें ही जीवोंकी उन्नति होती है, परमात्माकी भावनासे हृदयमें निर्मल ज्ञान और बंधे हुए जीव एक नवीन प्राण और नये तेजको प्राप्त होते हैं। जैन और पातञ्जल उभय दर्शन इसी सिद्धान्तको मानने वाले हैं।

अब यहाँ कणादके बताये हुए वैशेषिकदर्शन की बात आती है। वैशेषिकदर्शनका स्थान यों दिखलाया जा सकता है—आत्मा या पुरुषसे जो कुछ भी अलग है, वही सर्वग्रासी प्रकृतिके अन्तर्गत है; यही सांख्य और योगदर्शनका सूक्ष्म अभिप्राय है। उनके मतानुसार सत् पदार्थमात्र विश्वप्रधानके बीजरूपमें वर्तमान थे, इसीलिये कपिल और पतञ्जलने आकाश, काल और परमाणुके तत्वनिर्णयमें विशेष ध्यान नहीं दिया। उनके कथनानुसार यह सब प्रकृतिका विकृतरूप है, किन्तु ऐसी धारणा कोई सहज बात नहीं है। साधारण मनुष्यकी दृष्टिमें दिक, काल, परमाणु सभी अनादि हैं और स्वतन्त्र सत् पदार्थ हैं। जर्मनदार्शनिक काण्टेका कहना है कि दिक् और काल मनके संस्कारमात्र हैं, किन्तु जहाँतक अनुमान है, इस मतकी उन्होंने आद्योपान्त रक्षा नहीं कर पाई। मनसे दिक्-कालकी सत्ता पृथक् है। जहाँ तहाँ काण्टने भी यही बात कही है। साथ ही डिमोक्रिटाससे लेकर आजकलके वैज्ञानिक तक भी परमाणुओंके अनादित्व और अनन्तत्वको स्वीकार करते आये हैं। किन्तु कपिल और पतञ्जलने दिक्, काल और परमाणुओंका अनादि और अनन्त होना नहीं स्वीकार किया। दिक्, काल और परमाणुओंकी प्रकृति और लक्षण अलग अलग होते हुए भी वे सभी उसी एक अद्वीतीय विश्वप्रधानके विकार हैं, यह धारणा अनुभवगम्य न होते हुये भी सांख्य और योगमतके अनुसार तत्वके रूपमें मानी गई है।

वशेषिकदर्शनमें भी परमाणु दिक् और कालका अनादि और अनन्तत्व स्वीकार किया गया है।

प्रत्यक्षवादी चार्वाक मतके अनुसार कदाचित दिक् कालादिका स्वभाव निर्णय अनावश्यक समझ कर उसके प्रति उपेक्षाकी दृष्टि की गई है। दिक्, कालादि हम लोगोंकी दृष्टिमें सत्य प्रतीत होते हुए भी, शून्यवादी बौद्ध उसे अवस्तुके आख्या ही देते आ रहे हैं। वेदान्तका सिद्धान्त भी प्रायः इसी प्रकारका है। सांख्य और योगके मतानुसार दिक्, काल ये अज्ञेय प्रकृतिके अन्दर ही छिपे हुए, माने जाते हैं। केवलमात्र कणाद के मतमें ही दिक् काल और परमाणु-समूहोंका नित्यत्व, सत्ता और स्वतन्त्रता स्वीकृत हुई है। जैनदर्शनमें भी, ठीक उसी प्रकार जैसे कि वैशेषिकदर्शनमें, उन सबोंके अनादि और अनन्तत्वको स्वीकार किया गया है। सुयुक्तिवादके ये उपादेय फलसमूह भारतीय-दर्शनोंके अङ्गीभूत विषय हैं।

न्यायदर्शनमें प्रायः युक्तियोंके प्रयोगसे ही काम लिया गया है। तर्कविद्याकी जटिल नियमावलि इसी दर्शनके अन्तर्गत है। हेतुज्ञानादि विषय गौतमदर्शनमें विस्तृत रूपसे विशेष रूपसे वर्णन किये गये हैं। संसारके दार्शनिक तत्वसमूहों का समृद्ध-भण्डार जैन दर्शन ही है। तर्क तत्वादि भी इसी दर्शन में विशेषरूपसे

आलोचित हुए हैं। अतः इस विषयमें जैन और न्यायदर्शनमें बहुत कुछ समता पाई जाती है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि न्यायदर्शनके अध्ययन करलेने पर जैनदर्शनके अध्ययनकी आवश्यकता ही नहीं, तो यह एक बहुत बड़ी भूल की बात होगी। कारण, ये दोनों दर्शन बहुत अंशोंमें मिलते-जुलते हुए भी एक दूसरेसे सम्पूर्णतया पृथक पृथक हैं। स्याद्वाद और सप्ताङ्गीनय नामक प्रसिद्ध युक्तिवाद गौतमदर्शनमें नहीं है, वह जैनदर्शनका ही गौरव है, इस बातको मानना ही पड़ेगा।

भारतीय दर्शन समूहों में जैन दर्शनका क्या स्थान है। यह उपर्युक्त वर्णनसे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। बहुतोंका मत है कि जैनमत बौद्धमतके अन्तर्गत है। लासेन और वेबर ने जैन धर्मकी सत्ताको स्वतन्त्ररूप से स्वीकार नहीं किया। यहाँ तक कि ईसवी सन्के सप्तम शताब्दीके व्यक्ति हुएनसङ्गने भी जैनधर्मको बौद्ध धर्मकी एक शाखा मात्र ही माना है। वीलर और जैकोबीके मतानुसार जैनधर्म एक स्वतन्त्र धर्म है, और बौद्ध धर्मके पहले भी यह मत वर्तमान था ऐसा स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया है। कुछ भी हो हम लोग इस पुराने तत्वके विषय में किसी प्रकारका विवाद नहीं करना चाहते, यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि हम लोगोंका यह दृढ़ विश्वास है कि बौद्ध तथा जैन धर्म उनके उस समयके प्रवर्तकगणोंके बहुत पहले ही से वर्तमान थे। बौद्धमत बुद्धदेवसे उत्पन्न नहीं, उसी प्रकार जैनमत भी वर्द्धमानके द्वारा ही नहीं उत्पन्न हुआ। प्रतिवादोंके कारण जिस प्रकार उपनिषदोंकी उत्पत्ति मानी जाती है, ठीक उसी प्रकार वेदशासन और कर्मकाण्डोंके विरुद्ध जैन तथा बौद्धदर्शनकी उत्पत्ति मानना चाहिये। हुएनसङ्गने जिन कारणोंसे जैनधर्मको बौद्ध धर्मके अन्तर्गत माना है, वे यहाँ स्पष्टरूप से प्रगट हो रहे हैं। वे जिस समय यहाँ आये थे उस समय भारतवर्षमें बौद्धधर्म प्रबल हो रहा था। हम लोगोंने पहले भी कहा है कि अहिंसा और त्याग ये दोनों बौद्ध धर्मके मुख्य उपदेश हैं, वैदिक क्रिया कलापोंके विरुद्ध बौद्धोंका जो युद्ध हो रहा था, उसमें आत्मरक्षा तथा आक्रमणके लिये अहिंसा और त्याग ये ही दो प्रधान अस्त्र थे। और अवैदिक सम्प्रदायमात्र अहिंसा और त्यागके पक्षपात में थे। वैदिक यज्ञादि हिंसालिप्त एवं परलोकके नाशशील सुख प्राप्तिके लिये ही अनुष्ठित हुआ करते थे। जैन धर्मको भी वेदका शासन अमान्य था। जहाँतक अनुमान है, त्याग और अहिंसाको जैन समाजमें इसीलिये इतना ऊँचा स्थान दिया गया है। कदाचित इसी दृष्टिसे बाहरी रूपमें जैनधर्म तथा बौद्ध धर्म एकसे प्रतीत होते थे, क्योंकि दोनों ही वेदविधिको न माननेवाले तथा सन्न्यास और अहिंसाके पक्षपाती थे। ऐसी दशामें बाहरीरूपको देखकर यदि कोई विदेशी पर्यटक इन दोनों धर्मोंको एकही वस्तु समझले तो इस विषयमें कोई आश्चर्यकी बात न होगी। पर इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि ये दोनों धर्म तत्वतः एकही हैं। इन दोनों धर्मोंके आचार-समूह प्रायः एकसे होते हुये भी तत्वतः वे एक दूसरे से पूर्ण भिन्न हो सकते हैं। दृष्टान्तके रूपमें कहा जा सकता है

कि सँसारके क्षणिक सुख-शान्तिको त्याग करते हुये कठोर संयममय शुद्ध जीवन व्यतीत करनेके फलस्वरूप मोक्ष लाभ होता है, भारतीय प्रत्येक दर्शनकी यही राय है, इसमें सन्देह नहीं, पर प्रत्येक दर्शन एक दूसरेसे तत्वत: भिन्न ही है। जैसे कि उत्तर तथा दक्षिण मेरुमंडल परस्पर विभिन्न हैं उसी तरह ग्रीक देशीय सिमिक सम्प्रदायके मूलसूत्र साईरेनके सम्प्रदायके मूलसूत्रोंसे पृथक् थे। फिर भी कोई दिन ऐसा था जबकि दोनों सम्प्रदाय वालोंने सर्वत्यागको ही अपनी अपनी आदर्श नीति मान रक्खा था। ऐसी दशामें आचारोंकी विभिन्नताको लक्ष्यमें रखते हुये, जैन और बौद्ध धर्मको अपृथक् समझ लेना समीचीन नहीं होगा। वाह्यरूपमें जैन तथा बौद्धधर्ममें जो कुछ भी समता पाई जाती है उससे वे एक दूसरेसे उत्पन्न हुये हैं, ऐसा कभी प्रमाणित नहीं होता। हाँ, यदि यह कहा जाय कि वैदिक सम्प्रदायके निष्ठुर क्रिया कलापोंके विरुद्ध उठ खड़े होनेवाले युक्तिवाद ही इनके उत्पत्तिके एकमात्र कारण हैं तो अनुचित न होगा।

जैन तथा बौद्ध धर्मके तत्वोंकी यदि ठीक ठीक आलोचना की जाय तो यह स्पष्ट रूपमें प्रकट होजायगा कि ये दोनों धर्म एक दूसरेसे पूर्णतया पृथक है। बौद्धोंका कहना है कि शून्य ही एकमात्र तत्व है। जैनोंके मतानुसार सत्पदार्थ है एवं उसकी संख्यायें अगणित हैं। बौद्धमतके अनुसार आत्माका कोई अस्तित्व नहीं है, परमाणुका भी कोई अस्तित्व नहीं, दिक्, काल, धर्म (गति) ये कुछ भी नहीं हैं, ईश्वर नहीं है; किन्तु जैनोंके मतमें इन सबोंकी सत्ता मानी जाती है। बौद्धोंका कहना है कि निर्वाण लाभ होते ही जीवशून्यमें विलीन हो जाता है, किन्तु जैन मतके अनुसार मुक्तजीव का अस्तित्व चिर-आनन्दमय है और वही उसका सच्चा अस्तित्व हुआ करता है। यहाँ तक कि बौद्ध दर्शनका कर्म भी जैनदर्शनके कर्मसे भिन्नार्थ वाचक ही हुवा करता है।

उपर्युक्त कारणोंसे ही हम जैनधर्मको बौद्धधर्मकी एक शाखा माननेके लिये तैय्यार नहीं हैं। बौद्धदर्शनकी अपेक्षा तो सांख्यदर्शनके साथ जैनदर्शनका निकट सम्बन्ध अधिक रूपमें प्रतीत होता है। सांख्य और जैनदर्शन दोनों ही वेदान्तके अद्वैतवादको त्याग करते हुये, आत्माके बहुत्वको स्वीकार करते हैं। ये उभय दर्शन जीवातिरिक्त अजीव तत्वके पक्षमें पाये जाते हैं। फिर भी इन उभय दर्शनोंमेंसे कौनसा दर्शन किससे निकला है अथवा मूलत: इन दोनोंमें कहाँ समता है, यह बतलाना कठिन होगा। साधारणत: यही देखनेमें आता है, कि सांख्य और जैनदर्शनमें बहुत कुछ समता है, पर हैं ये दोनों ही एक दूसरेसे पूर्ण विभिन्न।

सबसे पहले यही देखनेमें आता है कि सांख्यदर्शनमें अजीव-तत्त्व या प्रकृति एक ही है, किन्तु जैन-दर्शनने अजीव-तत्वकी पाँच संख्यायें की हैं और उन पाँच अजीवोंमें पुद्गलाख्य अजीव असंख्यरूपमें विद्यमान हैं। अब इससे यही स्पष्ट होता है कि सांख्य दो तत्वोंको ही मानता है, पर जैन बहु-तत्वोंका मानने वाला है और भी इन दोनों दर्शनोंमें बहुतसे भेद हैं। सबसे बड़ा भेद

तो यह कि कपिल दर्शन अधिकांशमें चैतन्यवादी है और जैन-दर्शन विशेषरूपमें जड़वादी है। सांख्य दर्शनकी आलोचना करने वालेके हृदयमें पहले ही यह उदय होगा कि प्रकृतिका स्वरूप क्या है ? वह जड़ है या चैतन्य ? स्वभावतः प्रकृति सम्पूर्णरूपमें जड़ है, यह नहीं कहा जा सकता। जिसे जड़-पदार्थ कहते हैं; साधारणतः वह प्रकृति की विकृत क्रियाका ही शेष परिणाम हुआ करता है, तो फिर प्रकृति क्या है ? भिन्नभावापन्न गुण समूहोंकी साम्यावस्था ही प्रकृतिका स्वरूप है। सांख्य दर्शनमें अस्पष्टरूपमें प्रकृतिके ये ही लक्षण बतलाये हैं। इन्द्रिय-गोचर जड़-पदार्थ विभिन्न भाव वाले तीन गुणोंकी साम्यावस्था नहीं है। यह तो सहज ही में समझमें आने वाली बात है। वहुमें जो कि एक है, वह नाना प्रकारके गुण पर्यायोंमें रहकर भी जब कि अपने एकत्वकी रक्षा करनेमें समर्थ है, वह अवश्य ही कोई जड पदार्थ न होकर कोई अध्यात्म पदार्थ होगा, यह सभी समझ सकते हैं, भूयो दर्शन या तत्व विचारसे भी यह सिद्ध होने योग्य बात है । ऐसी दशामें विभिन्न भावापन्न त्रिगुणात्मक प्रकृतिके द्वारा यदि जगद्विवर्त-क्रिया सम्पन्न होती है ऐसा स्वीकार कर लिया जाय, तो प्रकृतिको एक अध्यात्म पदार्थ मानना ही पड़ता है, और भिन्न २ तीनों गुणों को उसी अध्यात्म पदार्थ प्रकृतिके स्वात्मविकाशके तीन प्रकार भी मानना पड़ता है, । यदि प्रकृतिको स्वभावतःएकान्त भिन्न तीन गुणोंका अचेतन संघर्ष मात्र विवेचन किया जाय तो प्रकृतिके द्वारा किसी भी पदार्थका पैदा होना संभव नहीं होता। सुतरां प्रकृतिको अध्यात्म पदार्थके रूपमें स्वीकार कर लेने ही से जगत विकाशन कार्य सम्भव हो सकता है।

प्रकृतिसे पैदा होने वाले, तत्व समूहोंमें पहले तत्त्व, महत्तत्त्व-बुद्धितत्त्व हैं । ये जड परमाणु पत्थर या किसी प्रकारके जड पदार्थ नहीं हैं, बल्कि ये एक अध्यात्म पदार्थ हैं, अहङ्कार कहलाने वाला दूसरा तत्व भी अध्यात्म पदार्थ ही है, उसके बाद इन्द्रिय, पंचतन्मात्रा, इसी प्रकार क्रमशः महाभूतोंकी सृष्टि देखनेमें आती है। यदि प्रकृतिको सम्पूर्ण जड प्रकृति ही स्वीकार कर लिया जाय, तो प्रकृतिकी यह विश्व सृष्टि-क्रिया एक बे मतलब और समझमें न आनेवाला विषय बन जाता है। महतत्त्व और अहङ्कार अध्यात्म पदार्थ हैं, कपिलके मतसे ही स्पष्ट है कि कार्य और कारण एक ही स्वभावके पदार्थ हैं। ऐसी दशामें पैदा हो चुकने वाले तत्व समूहोंकी तरह प्रसव करने वाली प्रकृतिको अध्यात्म पदार्थ कहना कोई युक्तिहीन बात नहीं हो सकती। यदि सचमुच प्रकृति सम्पूर्णतः जड स्वभाव वाली है, तो जड-स्वभाव व पंचतन्मात्राके पैदा होनेके पहले क्यों और कैसे दो अध्यात्म पदार्थोंका समुद्भव होता है, यह समझके बाहरकी बात है।

हाँ यदि प्रकृतिको अध्यात्म पदार्थ अनुमान कर लिया जाय, तो सभी बातें सुगम हो जाती हैं इसमें कोई भी सन्देह नहीं। प्रकृति बीजरूपी चित्पदार्थ है, इसके पूर्णरूपसे विकसित या विकाश-प्राप्त होनेकी दशामें सबसे पहले आत्मज्ञान और लक्ष्यज्ञानकी आवश्यकता होती है। बुद्धितत्व और

अहंकार तत्वकी उत्पत्ति भी इसीसे है। तदनन्तर प्रकृति अपने आत्मविकासके कारणस्वरूप आवश्यकतानुसार क्रमशः इन्द्रिय, तन्मात्रा, कहे जाने वाले जड़तत्वोंकी सृष्टि अपने आप ही करती रहती है। इस तरह प्रकृतिको अध्यात्मपदार्थ और उसमें पैदा होनेवाले तत्त्वोंको प्रकृतिके स्वात्म-विकासका साधन मान लेनेसे सांख्यकी बताई हुई जगत्-विवर्त-क्रिया बहुत कुछ समझमें आजाती है। प्रकृति तत्वको अध्यात्म पदार्थके रूपमें मानना वस्तुतः अपरिहार्य है। प्राचीन कालमें भी प्रकृति अध्यात्मपदार्थके रूपमें न मानी गई हो ऐसा नहीं है। कठोपनिषद्की तृतीय वल्लीके निम्न श्लोक नं० १०, ११ में प्रकृतिको अध्यात्मस्वभावके रूपमें प्रकाश करने एवं उसके द्वारा सांख्य दर्शनको वेदान्त दर्शनमें परिणत करनेकी जो चेष्टा की गई है वह सुस्पष्ट है:—

इन्द्रियेभ्यः परो ह्यर्थ अर्थेभ्यश्च परो मनः।
मनसश्च: परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

अर्थात्–इन्द्रियोंसे अर्थ समूह श्रेष्ठ है, अर्थ समूहोंसे मन श्रेष्ठ, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ, बुद्धिसे महदात्मा, महदात्मासे अव्यक्त, अव्यक्तसे पुरुष, पुरुष से बढ़कर कोई भी वस्तु श्रेष्ठ नहीं, पुरुष ही शेष सीमा है और वही श्रेष्ठ गति भी है।

जैन दर्शनका मत और ही कुछ है। जैन दर्शन में अजीव तत्त्व केवल संख्यामें ही एकसे अधिक है, यही नहीं; बल्कि प्रत्येक अजीव तत्व अनात्म स्वभाव है। उपर्युक्त कथनानुसार सांख्यके अजीव तत्व या प्रकृतिको तो अध्यात्म पदार्थके रूपमें परिणत किया जा सकता है। किन्तु जैन दर्शनके अजीव तत्व समूहोंको किसी भी प्रकारसे जीव स्वभावापन्न नहीं बनाया जा सकता। जैनमतके अनुसार अजीव तत्व पंच संख्यक है—पुद्गलाख्य जड़ परमाणु पुंज, धर्माख्य गतितत्व, अधर्माख्य स्थैर्यतत्व, काल और आकाश। ये सब जड़पदार्थ अथवा उसके सहायक हैं, यहाँ तक कि आत्माको भी जैन दर्शनने अस्तिकाय माना है याने परिमाण अनुसार आत्माका "कर्मज लेश्या" या वर्णभेद है। जैनदर्शनमें आत्मा अत्यन्त लघु पदार्थ और ऊर्द्ध-गतिशील कहा जाता है। ये सब बातें सांख्यमतके विरुद्ध हैं। हमने पहले ही कहा है कि सांख्य दर्शन बहुत कुछ चैतन्यवादके निकटवर्ती है, और जैन दर्शन प्रायः जड़वादकी ओर झुकता रहता है।

जैनदर्शन सांख्य दर्शनसे विभिन्न है, सुतरां सांख्य दर्शनसे जैनदर्शनकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। बहुतसे ऐसे विषय हैं कि जिनमें सांख्य और जैनदर्शनमें परस्पर सम्पूर्ण विरोध है। उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि सांख्यके मतानुसार आत्मा निर्विकार और निष्क्रिय है, किन्तु जैनदर्शनका कहना है कि वह अनन्त उन्नति और परिपूर्णताकी ओर झुकने वाला अनन्त क्रिया-शक्ति का आधार है।

हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि अर्हित-

दर्शन सुयुक्तिमूलक दर्शन है, और इसकी उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्डके प्रतिवादसे ही हुई थी। नास्तिक चार्वाक वादका इसके निकट कोई भी आदर नहीं। भारतीय अन्यान्य दर्शनोंकी तरह इसके भी अपने मूल सूत्र तत्व विचार और अपना मत-अमत पाया जाता है।

जैनधर्म और वैशेषिक दर्शनमें भी इतनी समता पाई जाती है कि यह बेधड़क कहा जा सकता है कि इन दोनोंमें तत्वतः कोई प्रभेद नहीं। परमाणु, दिक्, काल, गति, आत्मा प्रभृति तत्व-विचार इन उभय दर्शनोंका प्रायः एक ही प्रकारका है, किन्तु साथ ही पार्थक्य भी कम नहीं है। वैशेषिक दर्शन बहुतत्व वादी, ईश्वरको स्वीकार करते हुए एक तत्त्ववादकी ओर कुछ अग्रसर है, किन्तु जैनदर्शन तो नानातत्ववादके ऊपर ही पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है।

उपसंहारमें इतना ही कहना है कि जैनदर्शन विशेष विशेष विषयोंमें बौद्ध, चार्वाक, वेदान्त, साँख्य, पातंजलि, न्याय, वैशेषिक दर्शनोंके सदृश होते हुए भी, एक स्वतन्त्र दर्शन है। वह अपनी उत्पत्ति एवं उत्कर्षके लिए अन्य किसी भी दर्शन के निकट ऋणी नहीं है। भारतीय अन्यान्य दर्शनोंके साथ जैनदर्शन समता रखते हुए भी वह बहुतसे विषयोंमें सम्पूर्ण, स्वतन्त्र और सविशेष रूप से अनोखा है।

Register No L 4328.

❁ विषय-सूची ❁

		पृष्ठ
१. श्रीकुन्दकुन्द-स्मरण	... ...	४२५
२. उपासनाका अभिनय [ले० पं० चैनसुखदासजी	... ...	४२६
३. श्रीपाल-चरित्र-साहित्यके सम्बन्धमें शेष ज्ञातव्य [श्री० अगरचन्द नाहटा	...	४२७
४. अहिंसाका अतिवाद [श्री० पं० दरबारीलालजी	... ...	४३०
५. प्रभाचन्द्रका तत्वार्थसूत्र [सम्पादकीय	... ...	४३३
६. परमाणु (कविता)—[पं० चैनसुखदासजी	... ...	४४०
७. परवार जातिके इतिहास पर कुछ प्रकाश [श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी	...	४४१
८. अहिंसाके कुछ पहलू [श्री काका कालेल कर	... ...	४६१
९. छोटे राष्ट्रोंकी युद्धनीति [श्री. काका कालेल कर	... ...	४६५
१० भारतीय दर्शनोंमें जैन दर्शनका स्थान [श्री. हरिसत्य भट्टाचार्य	...	४६७

अनेकान्तके ग्राहक बनिये

जो सज्जन 'अनेकान्त' की पिछली किरण न लेकर नवीन किरण मई से ही ग्राहक बनना चाहते हैं। उन्हें सहर्ष सूचित किया जाता है कि वे १॥) रु० मनियार्डरसे भिजवा देने पर ७ वीं किरणसे १२ वीं किरण तकके ग्राहक बनाए जासकेंगे। उन्हें नवीन प्रकाशित किरणें ही भेजी जाएँगी और जो १॥) रु० के साथ चार आने पोस्टेजका अधिक भेज देंगे उन्हें समाधितन्त्र और जैन-समाज-दर्पण दोनों उपहारी पुस्तकें भी भिजवाई जा सकेंगी।

—व्यवस्थापक

वीर प्रेस ऑफ इण्डिया, कनॉट सर्कस, न्यू देहली।